श्यामसुन्दर के राजनीतिक दीवालियापन के बारे में एक बार फिर से

● अभिनव

(प्रैक्सिस कलेक्टिव, नरवाना-कलायत)

साथियो!

प्रसिद्ध वैज्ञानिक **अल्बर्ट आइंस्टीन** ने एक बार कहा था **"दो चीज़ों की कोई सीमा नहीं होती: मानवीय मूर्खता और ब्रह्माण्ड। मैं ब्रह्माण्ड के बारे में पक्का नहीं हूँ।"** श्यामसुन्दर ने अपने पेपर "कलायत बहस जारी रहे!" से, जो कि हमें 28 सितम्बर 2012 को प्राप्त हुआ, आइंस्टीन की इस उक्ति को शब्दश: सही सिद्ध कर दिया है। वास्तव में, मानवीय मूर्खता की कोई सीमा नहीं होती। आइंस्टीन के इसी कथन से जोड़कर मार्क्स के कथन को भी देखा जा सकता है: "अज्ञान एक राक्षसी शक्ति है और हमें डर है कि आने वाले समय में यह कई त्रासदियों का कारण बनेगा।" श्यामसुन्दर ने अपने पेपर से कुछ चीज़ें स्पष्ट रूप से दिखला दी हैं।

पहली बात यह कि श्यामसुन्दर तीन चीज़ों को समझने में बुरी तरह से असफल रहे हैं: (1) हमारी, यानी कि 'बिगुल मज़दूर दस्ता' की अवस्थिति, (2) रूसी क्रान्ति की विशिष्ट आभिलाक्षणिकताओं और बुर्जुआ जनवादी और समाजवादी क्रान्तियों के बारे में लेनिन की अवस्थिति, और (3) सम्भवत: स्वयं अपनी अवस्थिति, क्योंकि उनके पेपर में ऐसे हास्यास्पद अन्तरविरोध हैं कि इस बात पर सन्देह होने लगता है कि श्यामसुन्दर अपनी अवस्थिति (जो चाहे कितनी भी मूर्खतापूर्ण क्यों न हो!) को समझते भी हैं या नहीं।

दूसरी बात, जो उनके पेपर से साफ़ झलकती है, वह है कलायत में हुई बहस में धराशायी होने को लेकर बौखलाहट और अपने राजनीतिक अस्तित्व (आप इसे दुकानदारी भी पढ़ सकते हैं!) को बचाने की बदहवासी। ऐसा लगता है कि बहस का प्रतिनिधित्व कर रहे साथी अभिनव और उनके संगठन का हव्वा श्यामसुन्दर के दिलो-दिमाग़ पर छा गया है, और उनके दु:स्वप्नों का कारण बन रहा है। कलायत में हुई बहस ही दरअसल श्यामसुन्दर के लिए एक बुरे सपने के समान थी। यही कारण है कि पूरी बहस की वीडियो रिकॉर्डिंग करने के बावजूद श्यामसुन्दर उसे उसी तरह दबाकर बैठ गये हैं, जैसे कि मिल्युकोव-गुच्कोव की आरज़ी सरकार फरवरी, 1917 की क्रान्ति के बाद साम्राज्यवादी देशों से किये गये समझौतों को दबाकर बैठ गयी थी! **त्रासदी की बात यह है कि श्यामसुन्दर ने अपने नये पेपर में कोई भी नया तर्क या नयी दलील नहीं पेश की है।** अपने पुराने घिसे-पिटे तर्कों को ही और अधिक घिसते हुए उन्होंने इस पेपर में गंजेपन की हद तक पहुँचा दिया है।

लेकिन इसके बावजूद, कि श्यामसुन्दर के पास कोई भी नया तर्क और दलील नहीं है और इन सभी तर्कों और दलीलों को हम कलायत बहस में ज़मींदोज़ कर चुके हैं, हम एक आख़िरी बार इस जवाब में यह प्रदर्शित करेंगे कि श्यामसुन्दर के कुछ विशिष्ट तर्क ही नहीं बल्कि पूरी तर्कपद्धति ही पूर्ण गंजत्व को प्राप्त हो चुकी है। एक अन्य कारण जिसके चलते श्यामसुन्दर ने अपनी अजीबो-ग़रीब तर्कपद्धति का उदाहरण दिया है, वह है कलायत बहस में चारों खाने चित होने के बाद अपने संगठन के सदस्यों के समक्ष अपने "सम्मान" को पुनर्स्थापित करना। यह कारण कोई भी व्यक्ति समझ सकता है जो श्यामसुन्दर के नये पेपर को पढ़ेगा। इन्हीं कारणों से इसके बाद, इस बहस को जारी रखने का हमारा कोई इरादा नहीं है, क्योंकि हम काम करने वाले संगठन हैं। किसी भी राजनीतिक मूर्खता की पराकाष्ठा पर पहुँचने की प्रतिस्पर्द्धा में लगे राजनीतिक नौबढ़ की मूर्खता का हम अनन्तकाल तक जवाब नहीं देते रहेंगे। यह इस बहस में हमारा आख़िरी हस्तक्षेप है। इसमें हम नुक्ते-दर-नुक्ते श्यामसुन्दर के पेपर में प्रदर्शित "असीम मानवीय मूर्खता", छल-कपट और लफ्फाज़ियों का पर्दाफाश करेंगे।

श्यामसुन्दर की नयी लफ्फाज़ियाँ

श्यामसुन्दर अपने पेपर में दावा करते हैं कि अभिनव ने श्यामसुन्दर की पुस्तक 'लक्ष्य और विचारधारा' को भारतीय जनता के लिए दुर्भाग्यपूर्ण इसलिए बताया है क्योंकि उनका संगठन इस पुस्तक में श्यामसुन्दर द्वारा किये गये 'पर्दाफाश' से डर गया है! श्यामसुन्दर आरोप लगाते हैं कि हमारा संगठन भगतसिंह को 'आतंकवादी' मानता है और उनके नाम का अपने सांगठनिक हितों के लिए धूर्ततापूर्ण इस्तेमाल करता है। इसके लिए उन्होंने 'लाल तारा-2' का हवाला दिया है, हालाँकि उन्होंने वह उद्धरण नहीं पेश किया है जिसमें हमारे संगठन ने भगतसिंह को आतंकवादी कहा है। हम वह पूरा उद्धरण आपके सामने रख देते हैं:

"भारतीय राष्ट्रवाद की एक उग्र धारा आतंकवादी क्रान्तिकारियों की थी। इसका दार्शनिक आधार मध्यमवर्गीय था और इसके ज़्यादातार सदस्य निम्न मध्य वर्ग और मध्य वर्ग से आये हुये लोग थे। ये ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कट्टर विरोधी थे और किसी भी तरह का समझौता इनके लिए अग्राह्य था। इन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने के लिये हथियार उठाये और आतंकवाद का सहारा लिया। ब्रिटिश सुधारों में इन्हें कतई यक़ीन नहीं था और कांग्रेस के समझौतापरस्त नेतृत्व के ये कटु आलोचक थे। इन्होंने क़ुर्बानियों के नये-नये कीर्तिमान स्थापित किये और नौजवानों को सबसे ज़्यादा आकर्षित किया। इनका जनाधार सीमित था और आतंकवादी कार्रवाइयों ने इनके संगठनों को छिन्न-भिन्न कर दिया। इन सबके बावजूद ये जनता में अतिलोकप्रिय थे। और वीरों की तरह इनकी पूजा की जाती थी। प्रेस के तमाम प्रचार और पूँजीपति वर्ग की तमाम भौतिक शक्ति और प्रचारतंत्र की शक्ति बावजूद गाँधी के बराबर की लोप्रियता भगतसिंह को हासिल थी। भारतीय स्वाधीनता की लड़ाई में इनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

"निश्चित वैज्ञानिक समझ और तदनुसार उपयुक्त रणनीति और रणकौशल के अभाव में आतंकवादी क्रान्तिकारियों के संगठन बिखर गये। इनमें से ज़्यादातर लोग अपने अन्तिम दिनों में मार्क्सवाद की ओर झुके और इनका एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा 1933 के बाद कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल हो गया। कुछ कांग्रेस में शामिल हो गये और बचे-खुचे कुछ लोगों ने 1940 में भारत की क्रान्तिकारी समाजवादी पार्टी का गठन त्रात्स्की की विचारधारा के आधार पर किया। इन्हीं से अलग होकर 1948 में कुछ लोगों ने आज की भारतीय सोशलिस्ट यूनिटी सेण्टर पार्टी का गठन किया।

"भगतसिंह अपने आख़िरी दिनों में समाजवाद के पूरे हिमायती बन चुके थे। उन्होंने कांग्रेस के समझौतापरस्त वर्गीय चरित्र को अच्छी तरह समझा और अपने सपने के भारत की एक स्पष्ट तस्वीर नौजवानों और मेहनतकशों के सामने पेश की। यह तस्वीर समाजवाद की तस्वीर थी। आज भी भारत के नौजवान भगतसिंह से प्रेरणा ग्रहण करते हैं और उनके सपनों के भारत के निर्माण के लिए उनकी शानदार विरासत को स्वीकार और अंगीकार करते हैं।" ***(पृ. 69-70, लाल तारा-2)***

इस उद्धरण से हमारी सोच काफ़ी हद तक स्पष्ट हो जाती है। **पहली बात यह कि कोई बौद्धिक तौर पर दीवालिया व्यक्ति ही क्रान्तिकारी आतंकवाद का नकारात्मक अर्थ निकाल सकता है।** दुनिया के सभी उपनिवेशों में, चाहे वह आयरलैण्ड, अल्जीरिया हों या इण्डोनशिया और भारत, क्रान्तिकारी आतंकवाद की एक धारा किसी न किसी दौर में विकसित हुई। यह धारा बुर्जुआ राष्ट्रीय नेतृत्व की समझौतापरस्ती के ख़िलाफ़ थी और अपने आरम्भिक निम्न मध्यमवर्गीय चरित्र के चलते शुरुआती दौर में जनता पर विश्वास से ज़्यादा मुट्ठी भर बहादुर नौजवानों की वीरता और आतंकवादी कार्रवाइयों पर भरोसा करती थी। लेकिन श्यामसुन्दर जैसी तर्कपद्धति जैसे लोग आतंकवाद का एक ही अर्थ समझते हैं: लश्कर-ए-तैयबा और जमात-उद-दावा जैसा प्रतिक्रियावादी कट्टरपंथी आतंकवाद। ऐसे नासमझों के बारे में यही कहा जा सकता है कि वे मार्क्स का अराजकतावादी क्रान्तिकारियों के बारे में लेखन पढ़ें। **किसी भी किस्म का आतंकवाद राज्य के दमन का उत्पाद होता है। राज्य के दमन के विरोध में जब कोई व्यापक अर्थपूर्ण जनप्रतिरोध संगठित नहीं हो पाता तो दो किस्म के आतंकवाद पैदा होते हैं। एक वह जो प्रतिक्रियावादी विचारों पर आधारित होता है, और दूसरा वह जो क्रान्तिकारी विचारों पर आधारित होता है। अपने आपमें आतंकवाद कोई विचारधारा नहीं है। बिपन चन्द्र, सुमित सरकार** आदि तमाम मार्क्सवादी इतिहासकारों ने भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन में क्रान्तिकारी आतंकवाद की धारा का उत्कृष्ट विश्लेषण किया है जो श्यामसुन्दर को अवश्य पढ़ना चाहिए। शायद इसके बाद वह क्रान्तिकारी आतंकवाद और जैश-ए-मुहम्मद के आतंकवाद में फर्क करना सीख जायें। दूसरी बात, जैसा कि उपरोक्त उद्धरण के आखिरी पैराग्राफ़ से स्पष्ट है, हम भगतसिंह को इस धारा में भी एक विशिष्ट व्यक्तित्व के तौर पर देखते हैं। भगतसिंह वह व्यक्ति थे जो क्रान्तिकारी आतंकवाद की धारा में वैज्ञानिक समाजवाद की सोच का प्रवेश कराते हैं। इसके बावजूद, जैसा कि **बिपन चन्द्र** ने अपने प्रसिद्ध लेख **'दि आइडियोलॉजिकल डेवलपमेण्ट ऑफ रिवोल्यूशनरी टेररिस्ट्स इन नॉर्दन इण्डिया इन दि नाइण्टीन ट्वेण्टीज़'** में लिखा है, भगतसिंह के वैज्ञानिक समाजवाद तक आने, उसके राजनीतिक और सांगठिक सिद्धान्त को समझने की परिघटना एक आकस्मिक घटना नहीं बल्कि एक लम्बी प्रक्रिया थी, जो तब एक निर्णायक मुकाम तक पहुँची जब असेम्बली बम काण्ड के बाद भगतसिंह और उनके साथी गिरफ्तार किये जा चुके थे। भगतसिंह स्वयं मानते थे कि सिद्धान्तत: क्रान्ति के व्यापक जन चरित्र को समझने के बावजूद एच. एस.आर.ए. उसे व्यवहार रूप में नहीं उतार पायी। युवा राजनीतिक कार्यकर्ताओं के नाम अपने आख़िरी सन्देश में उन्होंने कहा कि अब नयी पीढ़ी के क्रान्तिकारी नौजवानों का यह कार्यभार होगा कि वे क्रान्ति की अलख को लेकर गाँव की जर्जर झोपड़ियों से लेकर शहरों की गन्दी बस्तियों तक जायें। लेकिन श्यामसुन्दर इस पूरी विचार-यात्रा को समझने की बजाय यमुनापारीण ब्राह्मण की तरह भगतसिंह की तस्वीर के सामने अगरबत्ती, घण्टी, आदि लेकर बैठ गये हैं। उनका ऐसा करना स्वाभाविक है। जो भी व्यक्ति क्रान्ति के विज्ञान को न समझ कर घिसे-पिटे फार्मुलों को रटता रहता है, उसे पूजा करने के वास्ते कोई चाहिए होता है। ज़ाहिर है, भगतसिंह वह पहले व्यक्ति होते जो इस किस्म की अनालोचानात्मक व्यक्ति-पूजा का विरोध करते, क्योंकि वे स्वयं अपने क्रान्तिकारी जीवन को आलोचनात्मक दृष्टि से देखते थे और शायद यही कारण था कि वे मृत्यु से पहले वैज्ञानिक समाजवाद और पार्टी की ज़रूरत के बारे में एक पुख़्ता समझ बना सके, हालाँकि यह प्रक्रिया उनके जेल जाने से पहले ही चल रही थी। लेकिन 1928 तक भी अभी वे अराजकतावादी आतंकवाद की सकारात्मक भूमिका के बारे में सोचते थे। मई से सितम्बर 1928 में अराजकतावादी आतंकवाद की सकारात्मक भूमिका पर उनका एक लेख *किरती* पत्रिका में किश्तों मे प्रकाशित हुआ था। लेकिन 1929 में जेल जाने के बाद मार्क्सवादी साहित्य पढ़ने का जो काम गाहे-बगाहे

हो पाता था, वह सघन रूप से हुआ। भगतसिंह की जेलनोटबुक इस बात का जीता-जागता साक्ष्य है। लेकिन इन बातों को समझने के लिए एक ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टि की ज़रूरत है, जिसका श्यामसुन्दर की तर्कपद्धति से दूर-दूर तक कोई लेना-देना नहीं है। इसीलिए वह तर्क की बजाय गाली-गलौच पर उतर आये हैं और इस प्रक्रिया में झूठ और लफ्फाज़ियों का सहारा ले रहे हैं। मिसाल के तौर पर, यह कहना कि हम भगतसिंह को आतंकवादी कहते हैं! यह ऐसा शर्मनाक झूठ है जिसे ऊपर हमारे उद्धरण को पढ़कर कोई भी समझ सकता है। लेकिन बेचारे श्यामसुन्दर स्वनामधन्य दार्शनिक व राजनीतिक चिन्तक बनने और अपने कार्यकर्ताओं के सामने खण्डित सम्मान बचाने की कवायद में अपना ही गाल बजाने में लगे हुए दिखायी पड़ते हैं। जैसे कि वह खुद ही कहते हैं कि कैसे महान श्यामसुन्दर ने अपनी पुस्तक के अध्याय 8 में उन सभी लोगों का दिमाग़ ठिकाने लगा दिया है जो भगतसिंह को आतंकवादी कहते हैं, और कैसे उन्होंने साबित कर दिया है कि भगतसिंह क्रान्तिकारी थे! आप देख सकते हैं कि श्यामसुन्दर कैसे 'आतंकवाद' और 'क्रान्तिकारिता' को दो विपरीत श्रेणियाँ मानते हैं और इसका उनके दिमाग़ में ख़याल तक नहीं आया कि क्रान्तिकारी आतंकवाद दुनिया भर में दमित राष्ट्रीयताओं के संघर्ष के विकास का एक अहम हिस्सा रहा है। भगतसिंह इस चरण से विचारधारात्मक तौर पर वैज्ञानिक समाजवाद की ओर संक्रमण का प्रतिनिधित्व करते हैं। लेकिन साथियो, श्यामसुन्दर को यह समझाना मुश्किल है। किसी ने सही कहा है कि दुनिया का सबसे उबाऊ मूर्ख वह है जो यह जानता नहीं कि वह मूर्ख है!

इसके बाद, पहले पृष्ठ के आखिरी पैराग्राफ़ में श्यामसुन्दर ने अपना नासमझ गाली-गलौच जारी रखा है और हमारे ऊपर भगतसिंह के नाम का अवसरवादी इस्तेमाल करने का आरोप लगाया है। ऊपर हमने जो स्पष्टीकरण दिया उसके बाद भगतसिंह पर दृष्टिकोण के बारे में और कुछ कहने की ज़रूरत नहीं है। हमें उम्मीद है कि आपमें से अधिकांश साथियों के पास हमारे संगठन द्वारा प्रकाशित भगतसिंह के सम्पूर्ण उपलब्ध दस्तावेज़ होंगे और साथ ही उनके लेखों का संकलन 'विचारों की सान पर' होगा। इन दोनों पुस्तकों में भगतसिंह के बारे में हमारे संगठन के नज़रिये को दो लेखों में स्पष्ट किया गया है। श्यामसुन्दर की बेईमानी को और अच्छी तरह से समझने के लिए आप ये लेख पढ़ सकते हैं।

अब सवाल उठता है कि श्यामसुन्दर यह झूठ बोल क्यों रहे हैं? कारण साफ़ है। पेपर में आगे राज्य के सवाल पर और क्रान्ति की मंज़िल के सवाल पर श्यामसुन्दर ने अपने आपको सही साबित करने के लिए वही सारे तर्क और दलीलें पेश की हैं जो वे कलायत बहस में दे चुके थे। उसके लिए उन्होंने सन्दर्भों से काटकर उद्धरण भी पेश किये हैं। इन उद्धरणों को किस प्रकार सन्दर्भों से काटकर श्यामसुन्दर ने मनमुआफिक नतीजा निकालने का प्रयास किया है, यह तो हम आगे सिलसिलेवार तरीके से दिखायेंगे ही। लेकिन अपने पेपर की शुरुआत एक आधारहीन तोहमत से करने के पीछे श्यामसुन्दर की मंशा क्या है? यह मंशा है पाठकों के दिमाग़ में पहले से ही एक छवि का निर्माण कर देना जिससे कि बाद में श्यामसुन्दर के वही दुहरावपूर्ण तर्क निष्प्रभावी न बन जायें और अन्ततः वे हमें प्रतिक्रान्तिकारी, ग़ैर-मार्क्सवादी और ग़लत साबित कर दें।

इसी कारण से श्यामसुन्दर ने पाठकों के मन में संशय पैदा करने के लिए एक और कुत्साप्रचार का सहारा लिया है। उन्होंने हमें सी.पी.आई. का पौत्र, प्रपौत्र घोषित कर दिया है! इसके बारे में भी कुछ शब्द। देखिये कि श्यामसुन्दर बिना किसी सन्दर्भ के किस प्रकार अपनी उल्टी-सीधी प्रस्थापनाओं को सही साबित करने की कोशिश कर रहे हैं। वह लिखते हैं, "भगतसिंह ने सी.पी.आई. की बौद्धिक दुर्बलता को पहचान लिया था और सी.पी.आई. को एक सही कम्युनिस्ट पार्टी के रूप में स्वीकार नहीं किया था। सी.पी.आई. के बारे में भगतसिंह की यह समझ थी कि इस पार्टी को यह भी पता नहीं कि यह पार्टी करना क्या चाहती है? क्योंकि इस पार्टी की न तो कोई मार्क्सवादी समझ थी और न ही कोई क्रान्तिकारी कार्यक्रम। यदि सी.पी.आई. की तनिक भी मार्क्सवादी समझ होती तो भगतसिंह उसमें अवश्य ही शरीक हो जाते। लेकिन उन्होंने ऐसा न करते हुए अपनी कालकोठरी से देश के युवाओं और मेहनतकशों को बोल्शेविक ढंग की एक सही कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण करने का सन्देश दिया था। परन्तु सी.पी.आई. और उसके पौत्र, पर-पौत्र, भगतसिंह को एक राष्ट्रीय क्रान्तिकारी और उग्रवादी-आतंकवादी

धारा के क्रान्तिकारी के रूप में ही मूल्यांकन करते हैं तथा सी.पी.आई. को ही इस देश की सच्ची कम्युनिस्ट पार्टी की मान्यता देते हुए, उसी की विरासत को ढोए जा रहे हैं।" यहाँ पर श्यामसुन्दर ने सिद्ध कर दिया है कि वह लफ्फाज़ियों और कुत्साप्रचार के शिरोमणि हैं! पहली बात, भगतसिंह के बौद्धिक दुर्बलता के जिस उद्धरण को यह महोदय सी.पी.आई. के मत्थे डाल रहे हैं वह एक जगह पंजाब के आन्दोलन के बारे में है और दूसरी जगह भारत के पूरे क्रान्तिकारी आन्दोलन के बारे में है, न कि कम्युनिस्ट पार्टी के बारे में। भगतसिंह का वह पूरा उद्धरण हम इस पेपर के आख़िरी हिस्से में आपके सामने पेश करेंगे जिसकी श्यामसुन्दर बात कर रहे हैं। सी.पी.आई. के बारे में भगतसिंह ने ऐसा कहीं भी नहीं लिखा है जिसका दावा श्यामसुन्दर कर रहे हैं। वास्तविकता यह है कि भगतसिंह और उनके साथी 1925 से 1929 तक कम्युनिस्ट पार्टी से सम्पर्क बनाये हुए थे। 1928 में कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़ी वर्कर्स एंड पेज़ेण्ट पार्टी ने नौजवान भारत सभा के जनकार्यों में एच.एस.आर.ए. के साथ मिलकर काम किया। भगतसिंह जब कानपुर में थे तो उनका सम्पर्क कुछ शुरुआती कम्युनिस्ट नेताओं से हुआ था, जैसे कि सत्यभक्त, शौकत उस्मानी और राधामोहन गोकुलजी। वे 1924 में लाहौर में मुज़फ्फर अहमद से भी मिले थे। लेकिन उस समय सी.पी.आई. स्वयं निर्माण की प्रक्रिया में थी। 21 से 24 दिसम्बर 1928 में कलकत्ता में मज़दूर-किसान पार्टियों का अखिल भारतीय सम्मेलन हुआ, जिसमें भगतसिंह गोपनीय तौर पर शामिल हुए थे। भगतसिंह और उनके साथी लाहौर केस में अण्डरट्रायल थे, और वहाँ उन्होंने मेरठ षड्यन्त्र मुकदमे के क्रान्तिकारियों से एकजुटता ज़ाहिर की। 1928 तक भगतसिंह और उनके साथी सी.पी.आई. और उसकी अवस्थितियों के बारे में पूरी तरह से नहीं जान पाये थे। कुछ सवालों पर उनके दोस्ताना मतभेद थे, जैसा कि दुर्गा भाभी ने बाद में बताया। लेकिन वे सी.पी.आई. को क्रान्तिकारी मानते थे, इसमें शक़ की कोई गुंजाइश नहीं है। दूसरी बात, सी.पी.आई. 1933 तक बस नाम-मात्र की पार्टी थी। 1933 में उसने कुछ नीति विषयक और रणकौशलात्मक दस्तावेज़ों को अपनाया और एक आरज़ी केन्द्रीय कमेटी का गठन हुआ और अपने कार्यक्रम और लक्ष्य पर आंशिक तौर पर कुछ नुक्ते साफ़ किये गये। 1933 से पहले सी.पी.आई. स्वयं बेहद तरल स्थिति में थी। जाहिर है कि ऐसी स्थिति में कोई पार्टी किसी बिरादर क्रान्तिकारी धारा को आनन-फानन में सीधे अपना अंग नहीं बना सकती। 1929 में भगतसिंह जेल चले गये। 1931 में भगतसिंह ने स्पष्ट किया कि जो पार्टी बनाने की ज़रूरत है उसका नाम कम्युनिस्ट पार्टी होना चाहिए। यह नैसर्गिक था। आप और क्या उम्मीद कर सकते हैं? लेकिन इस पूरे प्रकरण को यूँ पेश करना मानो भगतसिंह यह मानते थे कि इस पार्टी की कोई मार्क्सवादी समझदारी नहीं है, वगैरह-वगैरह, तथ्यों के साथ मनमाना और आपराधिक खिलवाड़ है। श्यामसुन्दर कुत्साप्रचार में किस हद तक गिर सकते हैं, यह उन्होंने यहाँ स्पष्ट कर दिया है।

दूसरा सवाल है कि सी.पी.आई. को शुरू से ही गैर-क्रान्तिकारी या प्रति-क्रान्तिकारी मानना। यह कहना कि 1925 से 1933 तक पार्टी के पास अपना कोई कार्यक्रम या नीति-निर्धारक दस्तावेज़ नहीं था, वह बौद्धिक तौर पर कमज़ोर थी, और 1933 के बाद भी अपने देश के बारे में उसके मूल्यांकनों पर सोवियत या चीनी पार्टी के मूल्यांकन हावी थे, एक बात है। और यह कहना कि यह पार्टी क्रान्तिकारी नहीं थी, दूसरी बात है। माओ ने कहा है कि किसी भी पार्टी के क्रान्तिकारी होने की पहली कसौटी है उसके नेतृत्व और काडरों का आवयविक संघटन। कार्यक्रम के सवाल पर समझदारी विकसित होना या न होना एक अलग सवाल है। अगर सी.पी.आई. शुरू से गैर-क्रान्तिकारी थी, तो श्यामसुन्दर को बताना पड़ेगा कि तेलंगाना के वीरतापूर्ण संघर्ष में सी.पी.आई. की नेतृत्वकारी भूमिका कैसे बनी? तेभागा और पुनप्रा वायलार में पार्टी की क्रान्तिकारी भूमिका कैसे बनी? श्यामसुन्दर अपनी विचित्र तर्कपद्धति का उदाहरण देते हुए दावा करते हैं कि सी.पी.आई. शुरू से ही विजातीय प्रवृत्ति थी। लेकिन सच बात तो यह है कि श्यामसुन्दर जिस पार्टी से निकले न तो उसने कभी कोई मज़दूरों या किसानों का आन्दोलन खड़ा किया, और न ही जिस संगठन को उन्होंने निकलने के बाद बनाया, उसका ही मज़दूर वर्ग के भीतर कोई आधार है। ऐसे में, अपने अध्ययन कक्ष में बैठकर पूरे कम्युनिस्ट आन्दोलन पर ऐसी टिप्पणी कोई राजनीतिक तौर पर मूर्ख लेकिन मनबढ़ व्यक्ति ही कर सकता है। जहाँ तक सी.पी.आई. के इतिहास का सवाल है, श्यामसुन्दर यहाँ 'लाल तारा-2' का सन्दर्भ नहीं देते हैं! दें भी क्यों? इस दस्तावेज़ में 1933 से लेकर 1951 तक सी.पी.आई. के इतिहास का एक

आलोचनात्मक मूल्यांकन पेश करते हुए बताया गया है कि भारतीय परिस्थितियों का पार्टी ने मार्क्सवादी पद्धति के जरिये कभी कोई मौलिक अध्ययन नहीं किया। नतीजतन, 1925 से 1933 तक बिना किसी कार्यक्रम सम्बन्धी दस्तावेज़ और केन्द्रीय कमेटी के पार्टी काम करती रही, हालाँकि ईमानदारी से। और 1933 के बाद भी अपने मौलिक अध्ययन के जरिये पार्टी ने कोई कार्यक्रम नहीं तैयार किया, बस विदेशी कम्युनिस्ट पार्टियों के कुछ पत्रों के आधार पर कुछ सामान्य रणकौशलात्मक दस्तावेज़ अपनाये। लेकिन यह बात एस.यू.सी.आई. और उसके बौने पुत्र 'जनसंघर्ष मंच' (जिसका कि अपने पिता से मनमुटाव हो गया है!) पर भी लागू होती है! **क्या कार्यक्रम-सम्बन्धी कोई विस्तृत अध्ययन के दस्तावेज़ के न होने के कारण श्यामसुन्दर अपने आपको प्रतिक्रान्तिकारी मानेंगे?** हमारे संगठन ने भारत की क्रान्ति के कार्यक्रम पर एक विस्तृत दस्तावेज़ रखा है, जिसमें आँकड़ों, तथ्यों और तर्कों के धरातल पर कार्यक्रम के सवाल को हल किया गया है। इसी दस्तावेज़ में हमने यह भी बताया है कि 1951 में क्रान्ति का रास्ता छोड़ सी.पी.आई. संशोधनवाद के रास्ते पर चल पड़ी क्योंकि लम्बे समय तक बिना सही विचारधारात्मक और कार्यक्रमगत समझदारी के कोई ईमानदार नहीं बना रह सकता। या तो वह बेईमान हो जायेगा और या फिर वह सही समझदारी तक पहुँचेगा। सी.पी.आई. सही समझदारी तक न पहुँच सकी और संसदीय वामपंथ के गड्ढे में जा गिरी। लेकिन कोई कहे कि सी.पी.आई. तो पैदाइशी बेईमान और ग़ैर-क्रान्तिकारी थी, तो यह उसकी ग़ैर-द्वन्द्वात्मक और अनैतिहासिक समझ को ही प्रदर्शित करेगा। और श्यामसुन्दर ने यह काम अभूतपूर्व क्षमता के साथ किया है! श्यामसुन्दर लिखते हैं कि हमारा संगठन 1951 से पहले सी.पी.आई. को 'सही' कम्युनिस्ट पार्टी मानता था! यह भी एक झूठ है। हमने लिखा है कि 1951 के पहले अपनी तमाम विचारधारात्मक कमज़ोरियों के बावजूद सी.पी.आई. क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी थी। किसी को 'सही' और 'क्रान्तिकारी' मानने में बहुत फर्क है। कोई ग़लत होते हुए क्रान्तिकारी हो सकता है, और कोई ग़ैर-क्रान्तिकारी हुए किसी मुद्दे पर सही हो सकता है। लेकिन श्यामसुन्दर ने अपनी इन कठदलीलियों, तथ्यों के साथ खिलवाड़, और झूठों-लफ्फाज़ियों से सिद्ध कर दिया है कि न तो वह सही है और न ही क्रान्तिकारी! उनके लिए आइंस्टीन का सूत्रीकरण ही सबसे उपयुक्त है: "मानवीय मूर्खता की अनन्तता"!

'बहस के मूल विषय' पर श्यामसुन्दर की राजनीतिक नटवरगिरी: या पुराने घिसे-पिटे तर्कों को गंजे हो जाने की हद तक घिसते जाने का मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त

यहाँ पर भी श्यामसुन्दर ने झूठ के पुलिन्दे के साथ शुरुआत की है। उनका कहना है कि हमारे संगठन का यह मानना है कि जब तक भूमि प्रश्न हल न हो तब तक समाजवादी क्रान्ति का नारा देना पूँजीवादी क्रान्ति के चरण को लाँघ जाने की बात करना होगा; हमारे पूरे पेपर में कहीं भी 'पूँजीवादी क्रान्ति के चरण को लाँघ जाने' जैसे शब्दों का इस्तेमाल नहीं है। हमारे पेपर में साफ कहा गया था कि भारत में पूँजीवादी राज्यसत्ता किसी क्रान्ति, वर्ग संघर्षों के क्रान्ति के हद तक विकसित होने का परिणाम नहीं थी। भारत में पूँजीवादी राज्यसत्ता एक अस्वाभाविक और अनैसर्गिक प्रक्रिया में अंग्रेज़ों के हाथों से भारतीय पूँजीपति वर्ग के हाथों में सत्ता-हस्तान्तरण के जरिये आयी थी। **इसलिए भूमि क्रान्ति का प्रश्न अधूरा नहीं था, बल्कि उसे आंशिक तौर पर भी पूरा नहीं किया गया था।** कलायत की बहस में हमने यह बात साफ़ तौर पर स्पष्ट की थी कि अगर 1947 में भारत में भूमि का प्रश्न आंशिक तौर पर भी हल हुआ होता, अगर किसान आबादी का विभेदीकरण आंशिक तौर पर भी एक मुकाम तक पहुँचा होता; अगर एक एकीकृत घरेलू बाज़ार आंशिक तौर पर भी अस्तित्व में आया होता; अगर सामन्ती लगान आंशिक तौर पर भी समाप्त हुआ होता; और अगर अस्वतन्त्र श्रम की समाप्ति आंशिक तौर पर भी

हुई होती; तो कुछ ख़ास परिस्थितियों में समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल मानी जा सकती थी। लेनिन ने भी स्पष्ट किया था कि कुछ बेहद विशिष्ट विश्व ऐतिहासिक परिस्थितियों में रूसी मज़दूर वर्ग 1917 में ही सत्ता पर काबिज़ होने की स्थिति में पहुँचा; लेनिन ने दो विशिष्ट परिस्थितियों का ज़िक्र किया है जिसके बग़ैर लेनिन के ही अनुसार, रूसी क्रान्ति कुछ दशक बाद होती। ये दो कारण थे: प्रथम विश्वयुद्ध और दोहरी सत्ता का स्वत:स्फूर्त रूप से अस्तित्व में आना। इन दो परिस्थितियों या कहें कि पूर्वशर्तों के पूरा हुए बग़ैर रूसी क्रान्ति का चरित्र 1917 में समाजवादी होना मुश्किल था, और उस समय पार्टी का प्रमुख कार्य राज्यसत्ता को चकनाचूर करना नहीं बल्कि संगठित मज़दूर-किसान शक्ति द्वारा बुर्जुआ सत्ता पर बुर्जुआ सुधारों और जनवादी कार्यभारों को रैडिकल तरीके से पूरा करने का दबाव डालना होता। इस बाबत आगे हम लेनिन के कुछ उद्धरण पेश करेंगे। लेकिन सबसे पहले हम श्यामसुन्दर के समान अर्थहीन और असन्दर्भित उद्धरणबाज़ी करने की बजाय, श्यामसुन्दर की मूर्खता के मूल बिन्दुओं को प्रदर्शित करेंगे।

स्पष्ट है कि लेनिन अक्टूबर क्रान्ति के आकस्मिक चरित्र को समझ रहे थे और जानते थे कि समाजवादी क्रान्ति को बुर्जुआ क्रान्ति के कई अधूरे कार्यभारों को पूरा करना पड़ेगा। **वास्तव में, किसानों को 1917 की समाजवादी क्रान्ति के बाद सामूहिकीकरण पर सहमत नहीं किया गया था, जैसा कि श्यामसुन्दर समझते हैं।** भूमि के पूँजीवादी राष्ट्रीयकरण और भूमि के सामूहिकीकरण में फर्क कोई भी राजनीतिक अर्थशास्त्र के बुनियादी उसूल समझने वाला व्यक्ति जानता है। लेकिन हम अपने पिछले पेपर में भी कह चुके हैं कि श्यामसुन्दर को मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के बुनियादी सिद्धान्तों की भी कोई समझदारी नहीं है। इसलिए ताज्जुब की बात नहीं है कि वे भूमि के राष्ट्रीयकरण और पुनर्वितरण को सामूहिकीकरण समझ बैठे हैं। लेनिन ने स्पष्ट कहा था कि इतिहास ने एक विशिष्ट परिस्थिति में रूसी सर्वहारा वर्ग को वक्त से पहले इतिहास के रंगमंच के केन्द्र में आने के लिए मजबूर कर दिया है। ये बेहद अद्वितीय स्थितियाँ ऐसी हैं कि अगर सर्वहारा वर्ग और व्यापक ग़रीब किसान आबादी राज्यसत्ता हासिल करने के लिए आगे नहीं बढ़ती, तो उसे इतिहास के रंगमंच से कई दशकों तक के लिए बाहर फेंक दिया जायेगा। इन अद्वितीय और बेहद विशिष्ट स्थितियों में रूसी क्रान्ति को कुछ समझौते करने पड़ेंगे और निम्न बुर्जुआ वर्ग को कुछ छूटें देनी पड़ेंगी। वास्तव में, अक्टूबर 1917 के बाद 1921 तक यह काम 'वार कम्युनिज़्म' और गृहयुद्ध की वजह से ठीक से नहीं किया जा सका, लेकिन इस दौर की समाप्ति के ठीक बाद ही 'नयी आर्थिक नीतियों' की शुरुआत की गयी। इसे लेनिन ने **'रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाने'** (स्ट्रैटेजिक रिट्रीट) की संज्ञा दी। **रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग** ने शुरुआत में लेनिन द्वारा भूमि के पुनर्वितरण की आलोचना की और कहा कि इन सुधारों के कारण रूसी मज़दूर वर्ग ने अपना एक भावी दुश्मन पैदा कर लिया है, लेकिन बाद में रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग ने लिखा कि क्रान्तिकारी अपने द्वारा चुनी गयी परिस्थितियों में क्रान्ति नहीं करते, वे इतिहास द्वारा दी गयी परिस्थितियों में क्रान्ति करते हैं। रूसी क्रान्ति के सामने उस समय और कोई रास्ता नहीं था, और इसीलिए अधूरी बुर्जुआ भूमि क्रान्ति को पहले मुकाम तक पहुँचाया गया, क्योंकि उस समय किसानों के साथ वर्ग संश्रय बनाने की यही पूर्वशर्त थी। 1929 से पहले कुछ ही सामूहिक फार्मों की स्थापना हुई थी जो कि राज्य की भूमि पर खेतिहर भूमिहीन मज़दूरों को संगठित करके की गयी थी। 1929 से 1931 तक का दौर 'आपातकालीन कदमों' का दौर था जिसमें नई आर्थिक नीतियों (नेप) द्वारा पैदा हुए नये कुलकों जिन्हें 'नेपमैन' भी कहा गया था, से जबरन फसल वसूली की गयी, बाज़ार के बिचौलियों को समाप्त किया गया और फिर 1931 से 1935 तक खेती में सामूहिकीकरण की प्रक्रिया को चलाया गया। अब श्यामसुन्दर यदि इतना भी नहीं जानते हैं कि 1917 में किसानों को सामूहिकीकरण पर नहीं राज़ी किया गया था, तो एक बार फिर वह आइंस्टीन के "असीम मानवीय मूर्खता" के सिद्धान्त की ही पुष्टि कर रहे हैं!

दूसरी भयंकर मूर्खता जो श्यामसुन्दर करते हैं उसे भी मूर्खता के क्षेत्र में एक मिसाल माना जा सकता है! यह मूर्खता है कुछ अजीबो-ग़रीब तुलनाओं और सादृश्य-निरूपणों में। मिसाल के तौर पर, उनका मानना है कि फरवरी, 1917 के रूस और अगस्त, 1947 के भारत में भूमि प्रश्न की स्थिति समान थी! उनका मानना है कि रूस में फरवरी, 1917 में बुर्जुआ

वर्ग का सत्ता में आना और भारत में अगस्त, 1947 में बुर्जुआ वर्ग का सत्ता में आना एकसमान है! इन्हीं दो सादृश्य निरूपणों और तुलनाओं के आधार पर श्यामसुन्दर ने अपनी मूर्खता की विराट अट्टालिका खड़ी की है, जिसे अन्त में लेनिन के उद्धरणों से सजा दिया गया है! लेकिन इससे सिर्फ़ भ्रम पैदा होता है कि उनकी तर्कपद्धति के शरीर पर कुछ वस्त्र हैं, वास्तव में, उद्धरणों के आभूषणों को उतार दिया जाय तो श्यामसुन्दर की तर्कपद्धति सड़क पर निपट नंगी दौड़ पड़ती है। सबसे पहली बात–फरवरी, 1917 में, जब रूस में बुर्जुआ क्रान्ति हुई तो बुर्जुआ भूमि सुधारों के कार्यभार मुख्य तौर पर पूरे हो चुके थे, हालाँकि ये कार्यभार क्रान्तिकारी अमेरिकी पथ से नहीं बल्कि युंकर शैली के प्रशियाई पथ से पूरे हुए थे। लेनिन ने 1899 में **'रूस में पूँजीवाद का विकास'** नामक अपनी रचना में ही बता दिया था कि पूँजीवादी विकास के बुनियादी पैमाने हैं: (1) सामन्ती भू-लगान का ख़ात्मा, (2) भूदासत्व का ख़ात्मा, (3) एक एकीकृत राष्ट्रीय बाज़ार का अस्तित्व में आना, (4) बाज़ार के लिए उत्पादन, न कि उपभोग के लिए, (5) किसान आबादी का विभेदीकरण। इन सभी पैमानों पर रूस में पूँजीवादी सम्बन्धों का विकास 1899 में ही मुख्य तौर पर हो चुका था। यही कारण था कि 1907 में प्रकाशित रचना **'पहली रूसी क्रान्ति में सामाजिक-जनवाद का कृषि-सम्बन्धी कार्यक्रम'** में लेनिन ने लिखा कि भावी समाजवादी क्रान्ति में रूसी पार्टी का नारा भूमि का पुनर्वितरण नहीं होना चाहिए, बल्कि भूमि का समाजवादी राष्ट्रीयकरण होना चाहिए। जाहिर है कि इस समय लेनिन यह मानकर चल रहे थे कि रूसी क्रान्ति सामान्य और नैसर्गिक परिस्थितियों में सम्पन्न होगी और तब तक प्रशियाई पथ से किये गये भूमि सुधारों से पैदा हुआ कृषि पूँजीवाद सुदृढ़ और स्थिरीकृत हो चुका होगा; लेकिन ऐसा नहीं हुआ और किसी के भी, यहाँ तक कि स्वयं लेनिन के आकलनों से पहले, रूस में समाजवादी क्रान्ति की स्थिति दो विशिष्ट कारणों से पैदा हो गयी जिसका ज़िक्र हम ऊपर कर आये हैं। फरवरी 1917 के बाद लेनिन **अप्रैल थीसिस** में समाजवादी क्रान्ति और मज़दूर वर्ग और ग़रीब किसानों द्वारा राज्यसत्ता पर कब्ज़े की हिमायत करने के लिए दो विशिष्ट कारणों का ज़िक्र करते हैं, जो अगस्त 1947 के भारत में अनुपस्थित थे।

उपरोक्त उद्धृत जिन पैमानों के आधार पर लेनिन ने रूस में पूँजीवाद के विकास को प्रदर्शित किया था, उस आधार पर अगस्त, 1947 में भारत की स्थिति का श्यामसुन्दर को अध्ययन करना चाहिए। फरवरी 1917 के पहले ही रूस में पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध प्रमुख उत्पादन सम्बन्ध बन चुके थे। केवल राज्यसत्ता ज़ारशाही की रह गयी थी, जबकि बुनियादी धरातलों पर भी स्थानीय स्वशासन निकायों पर बुर्जुआ वर्ग का कब्ज़ा हो चुका था। केवल राज्यसत्ता पिछड़ी सामन्ती रह गयी थी और उसमें भी सामन्त वर्ग को बुर्जुआ वर्ग को हिस्सेदारी देनी पड़ी थी, जो कि 1860 के दशक से ही लगातार बढ़ रही थी। वरना क्या फरवरी 1917 से अक्टूबर 1917 तक पूँजीवाद का विकास हो गया, जो समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल आ गयी? लेनिन इसके बारे में बिल्कुल स्पष्ट थे। उनका मानना था कि पुनर्वितरण वाले भूमि सुधार रूसी समाजवादी क्रान्ति की एक मजबूरी है, एक छूट जो कि मज़दूर वर्ग को मजबूरन किसानों को देनी ही पड़ेगी, क्योंकि उसके बिना मज़दूर-किसान संश्रय (जिसे लेनिन *स्मिच्का* कहा करते थे) कायम नहीं हो सकता था, और साम्राज्यवादी युद्ध की स्थिति में और एक दोहरी सत्ता के पैदा होने की विशिष्ट स्थिति में तत्काल सत्ता पर मज़दूर वर्ग की पार्टी का कब्ज़ा न होना पीछे की ओर एक कदम होता, और इससे सर्वहारा वर्ग के हाथ से राजनीतिक पहल लम्बे समय के लिए छिन जाती। इसलिए अगर तात्कालिक तौर पर कुछ समझौते भी करने पड़ते हैं तो किये जायें, लेकिन राज्यसत्ता पर कब्ज़ा एक अनिवार्य आवश्यकता बन चुकी है। लेकिन यह सब कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में हुआ, जिसके बारे में श्यामसुन्दर ने कोटेशन नहीं छाँटे! वे उद्धरण हम आगे पेश करेंगे। मूल बात यह है कि फरवरी 1917 की बुर्जुआ क्रान्ति के पहले ही रूस में पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों का विकास हो चुका था, जबकि 1947 के भारत में ऐसा नहीं हुआ था, जिसके आँकड़े और इतिहासकारों के अध्ययन हम आगे उद्धृत करेंगे; दूसरी बात, फरवरी 1917 की क्रान्ति में मज़दूरों-किसानों ने अहम भूमिका निभायी थी लेकिन वर्ग सचेत नेतृत्व और संगठन के अभाव में जनता की जनवादी क्रान्ति न हो सकी और एक बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति हुई। लेकिन इस पूरी प्रक्रिया में पेत्रोग्राद सोवियत अस्तित्व में आयी जो कि एक समानान्तर सरकार का काम करने लगी; इसमें मज़दूर वर्ग और सैनिकों (जिन्हें लेनिन 'वर्दी में

किसान' कहा करते थे) की प्रमुखता थी; पेत्रोग्राद में पुलिस व सशस्त्र बल भंग हो गये थे, जिसका कारण था रोटी, शान्ति और ज़मीन के लिए जनता द्वारा किया जा रहा आन्दोलन। **इस सोवियत की समानान्तर सत्ता वास्तव में 'मज़दूर व किसान वर्ग की जनवादी तानाशाही' का प्रतिनिधित्व कर रही थी और लेनिन ने कहा कि यही कारण है कि राज्य का प्रश्न हल माना जाना चाहिए, और पूँजीवादी सम्बन्ध तो पहले ही स्थापित हो चुके थे। समानान्तर सत्ता के स्थापित होने को लेनिन समाजवादी क्रान्ति की अवस्था में प्रवेश का कारण मानते थे।** इसके बारे में उद्धरण आगे दिये जाएँगे। लेकिन अगस्त, 1947 के भारत में न तो ऐसी कोई समानान्तर सत्ता थी, न ही कोई मंझी हुई कम्युनिस्ट पार्टी का नेतृत्व, और न ही साम्राज्यवादी विश्व युद्ध की स्थिति जिसे कि क्रान्तिकारी गृहयुद्ध में तब्दील किया जा सकता था। श्यामसुन्दर बिना इन बुनियादी फर्कों पर ग़ौर किये अगस्त 1947 में ही समाजवादी क्रान्ति कर डालने के अपने राजनीतिक पूर्वजों (त्रात्स्कीपंथियों और एस.यू.सी.आई.) के मज़ाकिया सिद्धान्त को सही साबित करने के लिए उद्धरणबाज़ी कर रहे हैं। इस मज़ाकिया सिद्धान्त को लेनिन के सैंकड़ों उद्धरणों से चारों खाने चित किया जा सकता है। हम उद्धरण पेश करेंगे, लेकिन उद्धरणबाज़ी से पहले मार्क्सवादी अपने देश की ठोस परिस्थितियों का ठोस विश्लेषण करता है।

भारत में भूमि क्रान्ति का प्रश्न आंशिक तौर पर भी हल नहीं हुआ था; प्रशियाई पथ से भी भूमि सुधार अभी भारत में शुरू तक नहीं हुए थे; 1951 में ज़मींदारी उन्मूलन कानून आने के साथ यह प्रक्रिया शुरू हुई और 1950 के दशक के उत्तरार्द्ध तक जारी रही। रूस में इसके विपरीत, प्रशियाई पथ से भूमि सुधारों का कार्य फरवरी 1917 के पहले ही पूरा हो चुका था; लेनिन ने बताया था कि प्रशियाई पथ से भूमि सुधार होने पर कई सामन्ती अवशेष बचे रह जाते हैं, जिन्हें समाजवादी क्रान्ति पूरा करती है। लेकिन कम-से-कम प्रशियाई पथ से भूमि सुधार होना इसकी पूर्वशर्त है और केवल तभी समाजवादी क्रान्ति अधूरी जनवादी और भूमि क्रान्ति के कार्यभारों को पूरा कर सकती है! **जब ये कार्यभार आंशिक तौर पर भी पूरे न हुए हों, जब उत्पादन सम्बन्ध प्रमुख तौर पर सामन्ती बने हुए हों, तो ऐसे में अगर किसी सत्ता हस्तान्तरण की प्रक्रिया के जरिये बुर्जुआ वर्ग भी सत्ता में आ जाये, तो कम्युनिस्ट आन्दोलन का पहला कार्यभार होगा कि वह मज़दूर और किसान आन्दोलन के जरिये उस सत्ता पर क्रान्तिकारी दबाव निर्मित करे कि वह इन कार्यभारों को अधिक से अधिक रैडिकल तरीके से पूरा करे; ऐसे में, बुर्जुआ सत्ता या तो रैडिकल तरीके से इन कार्यभारों को अंजाम देगी और या फिर उसके अंजाम न देने की सूरत में मज़दूर-किसान आन्दोलन राजनीतिक तौर पर पार्टी के नेतृत्व में उस अवस्था तक पहुँचेगा कि जनता की जनवादी क्रान्ति करे।** लेनिन ने भी इसी बात की ताईद की है और इस बाबत हम लेनिन का उद्धरण आगे रखेंगे। भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन ऐसा कोई दबाव निर्मित करने में असफल रहा।

तीसरी बात, फरवरी क्रान्ति एक क्रान्ति थी; क्रान्ति राज्यसत्ता का प्रश्न हल करती है; क्रान्ति वर्ग संघर्षों के उन्नत होने की एक ख़ास मंज़िल में ही हो सकती है; वर्ग संघर्ष उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के बीच संघर्ष की राजनीतिक अभिव्यक्ति होता है, जिसमें क्रान्तिकारी वर्ग उन्नत उत्पादक शक्तियों का प्रतिनिधित्व करता है और शासक वर्ग पिछड़े उत्पादन सम्बन्धों का; शासक वर्ग द्वारा शासित वर्गों के दमन का उपकरण है राज्यसत्ता। यह बुनियादी मार्क्सवादी सिद्धान्त है जिसे रटते-रटते श्यामसुन्दर इसका अर्थ भूल गये हैं। या तो उन्हें यह सिद्ध करना पड़ेगा कि अगस्त 1947 के पहले भारतीय सामाजिक संरचना में पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध प्रभावी हो चुके थे, या फिर उन्हें बताना पड़ेगा कि अगस्त 1947 से पहले भारत की मेहनतकश जनता पर किसका शासन था? इस सवाल को श्यामसुन्दर गोल कर जाते हैं। 1947 के पहले भारत में औपनिवेशिक सत्ता और सामन्ती भूस्वामी वर्ग के गठजोड़ का शासन था। आज हर विचारधारात्मक शेड के मार्क्सवादी इतिहासकारों के बीच यह एक स्थापित तथ्य है कि औपनिवेशिक सत्ता का सबसे मज़बूत स्तम्भ सामन्त, ज़मींदार और राजे-रजवाड़े थे। अगस्त 1947 के ठीक पहले तक यही स्थिति थी; भारतीय पूँजीपति वर्ग अपने जन्म से ही समझौतापरस्त रहा था, और साम्राज्यवाद से अन्तरविरोध रखने और राजनीतिक स्वतन्त्रता की चाहत रखने के बावजूद वह भारतीय जनता को साथ

लेकर उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ फैसलाकुन संघर्ष करने से डरता था क्योंकि उसे लगता था कि एक बार यदि जनता की राजनीतिक पहलकदमी खुल गयी तो वह बुर्जुआ क्रान्ति तक रुकेगी नहीं। ऐसे में, कांग्रेस के राजनीतिक नेतृत्व ने अंग्रेज़ों के साथ समझौता-दबाव-समझौता की रणनीति पर संघर्ष किया। अंग्रेज़ साम्राज्यवादी इस बात को समझते थे कि सामन्त और ज़मीन्दार वर्ग भारत में सत्ता सम्भालने की स्थिति में नहीं हैं और आज़ादी के बाद भी ब्रिटिश आर्थिक हितों की सुरक्षा पूँजीपति वर्ग के शासन में ज़्यादा बेहतर तरीके से हो पायेगी, क्योंकि भारतीय पूँजीपति वर्ग भारत में पूँजीवादी विकास के लिए पश्चिमी पूँजी और तकनोलॉजी पर निर्भर होने के लिए मजबूर होगा। ऐसे में, ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने जाते समय सत्ता भारत के पूँजीपति वर्ग की प्रतिनिधि कांग्रेस के हवाले की। भारत का पूँजीपति वर्ग उपनिवेशवाद-विरोधी, सामन्तवाद-विरोधी जनान्दोलन के जरिये सत्ता में नहीं आया था। फरवरी, 1917 के रूस की स्थिति बिल्कुल भिन्न थी। वहाँ युद्ध की परिस्थितियों में मज़दूर-किसान आन्दोलन ने ज़ारशाही की चूलें हिला दी थीं, और ब्रिटेन और फ्रांस के साम्राज्यवादियों की मदद से दिसम्बरवादियों और कैडेटों के बुर्जुआ गठजोड़ ने बुर्जुआ आरज़ी सरकार की स्थापना की और संविधान सभा बुलाने का वायदा किया। **अगस्त, 1947 कोई क्रान्ति नहीं थी।** हम फिर से दुहरा दें कि यह एक अस्वाभाविक स्थितियों में हुआ सत्ता हस्तान्तरण था, जब अंग्रेज़ भी समझ रहे थे कि अगर वे तत्काल कांग्रेस को सत्ता हस्तान्तरित करके नहीं गये, तो भारत में जनविद्रोह किसी ऐसी जनता की जनवादी क्रान्ति की तरफ़ जा सकता है जो उसके साम्राज्यवादी आर्थिक हितों के लिए अनुकूल न हो। ग़ौरतलब है, कि यही समय था जब तेलंगाना, तेभागा, पुनप्रा वायलार के संघर्ष और नौसेना व वायुसेना में विद्रोह जारी थे। इन सभी फर्कों को नज़रअन्दाज़ करके लेनिन के उद्धरण छाँटकर श्यामसुन्दर जो साबित करना चाहते हैं, वह अन्त में एक हास्यास्पद प्रयास बन गया है।

लेनिन के दो चरणों में क्रान्ति के सिद्धान्त को समझाने के लिए श्यामसुन्दर द्वारा कई चरणों में की गयी मूर्खताएँ

श्यामसुन्दर ने लेनिन के दो चरणों में क्रान्ति के सिद्धान्त की अपनी एक दिलचस्प व्याख्या की है। श्यामसुन्दर लिखते हैं कि फरवरी 1917 में सत्ता बुर्जुआ वर्ग के हाथ में चली गयी और मज़दूरों-किसानों की सोवियत ने ऐसा होने दिया। अगर वह ऐसा नहीं होने देती और फरवरी 1917 में ही मज़दूरों और किसानों की सोवियत सत्ता अपने हाथ में ले लेती (यदि वह पर्याप्त रूप से वर्ग सचेत होती और उसके पास एक दक्ष नेतृत्व होता) तो वह कैसी क्रान्ति होती? निश्चित तौर पर एक जनता की जनवादी क्रान्ति, न कि समाजवादी क्रान्ति, जैसा कि त्रात्स्की का मत था। त्रात्स्की का मानना था कि ज़ारशाही के ख़िलाफ़ सीधे समाजवादी क्रान्ति कर सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व कायम किया जाना चाहिए। लेकिन श्यामसुन्दर इस बात को समझ नहीं सके हैं। फरवरी क्रान्ति हर सूरत में जनवादी क्रान्ति ही होती: या तो बुर्जुआ जनवादी और या फिर जनता की जनवादी क्रान्ति। और इसके बाद तत्काल समाजवाद में प्रवेश सिर्फ़ और सिर्फ़ इसलिए सम्भव था क्योंकि रूस में मुख्य तौर पर पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध पहले ही कायम हो चुके थे। साम्राज्यवादी युद्ध और समानान्तर सत्ता के अस्तित्व में आने की अभूतपूर्व और अद्वितीय स्थिति में बुर्जुआ सत्ता का पदच्युत कर दी गयी सामन्ती शक्तियों से समझौते करना स्वाभाविक था। लेकिन इस चीज़ को रोकने के लिए लेनिन ने उस समय सीधे समाजवादी क्रान्ति और राज्य पर कब्ज़े का नारा नहीं दिया, बल्कि आह्वान किया कि पेत्रोग्राद सोवियत को क्रान्तिकारी जनदबाव निर्मित कर हर प्रतिक्रियावादी कदम को रोकना चाहिए, जैसे कि राजतन्त्र का निकोलस द्वितीय के भाई को रीजेण्ट बनाकर आंशिक पुनर्स्थापना, पुलिस बल की पुनर्स्थापना और सोवियतों का निरस्त्रीकरण किये जाने के प्रयास। और सोवियत ने यही किया। बुर्जुआ सत्ता के सामन्तों से समझौतापरस्ती के समक्ष लेनिन ने क्रान्तिकारी जनदबाव निर्मित करने का आह्वान किया न कि तत्काल आम बग़ावत कर समाजवादी क्रान्ति करने

का। हमसे श्यामसुन्दर पूछते हैं कि जब अगस्त 1947 में सत्ता में आने के बाद नवसत्तासीन बुर्जुआ वर्ग सामन्ती शक्तियों के साथ समझौतापरस्ती की नीतियाँ अपना रहा था और रैडिकल भूमि सुधार नहीं कर रहा था, तो हम क्या नारा देते? हम वही नारा देते जो अक्टूबर क्रान्ति की तात्कालिक स्थितियाँ पैदा होने के पहले लेनिन ने दिया था: बुर्जुआ सत्ता पर रैडिकल तरीके से जनवादी कार्यभारों को पूरा करने के वायदों पर अमल के लिए क्रान्तिकारी जनान्दोलनों का दबाव बनाना, क्योंकि तब तक समाजवादी क्रान्ति के लिए स्थितियाँ पकी नहीं थीं। लेनिन के इस उद्धरण पर ग़ौर करें:

"चखीज़े की ढुलमुल नीतियों के बारे में मैंने कल जो निष्कर्ष निकाला था उसकी पुष्टि आज 10 मार्च (23 मार्च) को दो दस्तावेज़ों से पूर्ण रूप से हो गयी है। पहला दस्तावेज़–फ्रैंकफर्ट जीतुंग में स्टॉकहोम से तार द्वारा भेजी गयी एक रिपोर्ट जिसमें सेण्ट पीटर्सबर्ग में हमारी पार्टी रूसी सोशल डेमोक्रैटिक पार्टी की केन्द्रीय समिति के घोषणापत्र से लिये गये उद्धरण प्रकाशित किये गये हैं। इस दस्तावेज़ में गुचकोव की सरकार का समर्थन करने या उसे उलट देने के सम्बन्ध में एक शब्द भी नहीं कहा गया है। ज़ारशाही के विरुद्ध गणतन्त्र की स्थापना के लिए, आठ घण्टे के दिन, सामन्ती जागीरों और अनाज के जखीरों को ज़ब्त करने तथा मुख्य रूप से लुटेरे युद्ध का अन्त करने के लिए मज़दूरों और सैनिकों का आह्वान किया गया है कि वे मज़दूर-प्रतिनिधियों की सोवियतों के इर्द-गिर्द संगठित हों और उसके लिए अपने प्रतिनिधि चुनें। इस सिलसिले में हमारी पार्टी की केन्द्रीय समिति का यह बिल्कुल सही विचार विशेष रूप से महत्वपूर्ण और अति-आवश्यक है कि शान्ति की स्थापना करने के लिए युद्धरत सभी देशों के मज़दूरों के बीच सम्बन्ध स्थापित होने चाहिए।" *(सुदूर से तीसरा पत्र, सर्वहारा मिलिशिया के बारे में)*

जैसा कि आप देख सकते हैं, लेनिन यहाँ बिल्कुल स्पष्ट हैं। **यदि बुर्जुआज़ी सामन्ती शक्तियों के साथ जनता के डर से समझौते कर रही है, और जनता अभी समाजवादी क्रान्ति के लिए तैयार नहीं है तो जब तक कि उसे समाजवादी क्रान्ति के लिए तैयार किया जाय, तब तक बुर्जुआ सत्ता पर क्रान्तिकारी जनदबाव बनाया जाना चाहिए, और इसीलिए तब तक न तो बुर्जुआ सत्ता का समर्थन किया जाना चाहिए और न ही उसे उखाड़ फेंकने और समाजवादी क्रान्ति करने का आह्वान करना चाहिए।** तब तक बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति की उपलब्धियों की हिफाज़त करने और जो हासिल नहीं हुआ है या अधूरा है उसे पूरा करने के लिए क्रान्तिकारी जनदबाव निर्मित किया जाना चाहिए। इसी बात को लेनिन अपने इसी तीसरे पत्र में और स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि फरवरी क्रान्ति में ज़ारशाही के उन्मूलन के पहले ही रूसी बुर्जुआ वर्ग वास्तव में सत्ता में आने लगा था, पूँजीवादी सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे और ज़ारशाही का उन्मूलन एक औपचारिकता थी, जो कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में बेहद तेज़ गति से पूरी हो गयी। लेकिन जब तक कि सर्वहारा संगठन समाजवादी क्रान्ति के करने की स्थिति में नहीं है, तब तक सोवियतों को जनवादी क्रान्ति को ही मुकम्मिल बनाने के लिए क्रान्तिकारी जनदबाव निर्मित करना चाहिए। यहाँ यह बात ग़ौर करने लायक है कि भारत में ऐसी भी स्थिति नहीं थी, क्योंकि अगस्त 1947 के पहले न तो बुर्जुआजी वास्तव में सत्ता में आ चुकी थी, और न ही पूँजीवादी सम्बन्धों को स्थापित करने की प्रक्रिया आंशिक तौर पर भी पूरी हुई थी। लेनिन के इस लम्बे उद्धरण पर ग़ौर करें:

"वर्तमान परिस्थिति की विशेषता यह है कि गुचकोव-मिल्युकोव की सरकार ने असाधारण सरलता से जो पहली विजय प्राप्त की उसके निम्नलिखित तीन प्रमुख कारण थे: (1) ब्रिटिश-फ्रांसीसी वित्तीय पूँजी और उसके दलालों की सहायता। (2) सेना के उच्च स्तरों के एक भाग की सहायता। (3) रूस के पूरे पूँजीवादी वर्ग के ज़ेम्स्त्वो और शहरी स्थानीय सरकारी संस्थाएँ, राजकीय दूमा, युद्ध उद्योग समितियाँ वगैरह-वगैरह के रूप में पहले से मौजूद संगठन।

"गुचकोव की सरकार एक चक्कर में फँस गयी है। पूँजी के हितों से बंधी होने के कारण वह लूटमार के युद्ध के प्रयास को जारी रखने, पूँजीपतियों और ज़मींदारों के विशाल मुनाफ़ों की रक्षा करने तथा राजतन्त्र की पुनर्स्थापना करने के लिए मजबूर है। अपने क्रान्तिकारी उद्गम से तथा ज़ारशाही से लोकतन्त्र में अचानक परिवर्तन की आवश्यकता से बंधे होने के कारण, रोटी और शान्ति के लिए भूखी जनता के दबाव से सरकार झूठ बोलने, बातें बनाने, समय की माँग करने, "घोषणाएँ करने" और अधिक से अधिक वायदा करने (वायदे ही ऐसी चीज़ हैं जो बेतहाशा महँगाई के दौर में भी बहुत सस्ते हैं) तथा कम से कम अमल करने, एक हाथ से रियायतें देने तथा दूसरे हाथ से उन्हें वापस लेने के लिए मजबूर है।

"नयी सरकार किन्हीं परिस्थितियों के अन्तर्गत, अधिक से अधिक अपने पतन को किसी हद तक, रूस के पूरे पूँजीवादी वर्ग तथा पूँजीवादी बुद्धिजीवी वर्ग की सम्पूर्ण सांगठनिक योग्यता का सहारा लेकर, स्थगित कर सकती है। लेकिन उस हालत में भी वह अपने पतन को टाल नहीं सकती क्योंकि विश्व-पूँजीवाद से पोषित साम्राज्यवादी युद्ध के भयानक दानव और अकाल के पंजों से छुटकारा पाना तब तक असम्भव है जब तक कि पूँजीवादी सम्बन्धों को तिलांजलि न दे दी जाय, क्रान्तिकारी कदम न उठाये जायें तथा रूसी और विश्व के सर्वहारा वर्ग की सर्वोच्च ऐतिहासिक वीरता का आह्वान न किया जाय।

"अत: निष्कर्ष निकलता है कि: हम नयी सरकार को एक ही झटके में उलट नहीं सकते या अगर हम ऐसा कर भी सकते हैं (क्रान्तिकारी घड़ियों में जो सम्भव है, उसकी सीमाएँ हज़ार गुना बढ़ जाती हैं) तो हम सत्ता को उस समय तक सम्भाल नहीं सकते जब तक कि रूस के सम्पूर्ण पूँजीपतियों और पूरे पूँजीवादी बुद्धिजीवियों के शानदार संगठन के मुकाबले सर्वहारा वर्ग उसी प्रकार का शानदार संगठन नहीं खड़ा कर लेते जो शहर और देहात के ग़रीबों, अर्द्धसर्वहाराओं तथा छोटे मालिकों के व्यापक जनसमुदायों का नेतृत्व करने में सक्षम हो।

"इस बहस में पड़े बग़ैर कि सेण्ट पीटर्सबर्ग में "दूसरी क्रान्ति" शुरू हो गयी है या नहीं (मैंने कहा है कि यह सोचना बिल्कुल बेकार है कि विदेश से यह जायज़ा लेना सम्भव है कि क्रान्ति किस रफ्तार से परिपक्व हो रही है)–या वह कुछ दिनों के लिए स्थगित हो गयी है, या वह किन्हीं अलग-अलग क्षेत्रों में प्रारम्भ हो गयी है (जिसके कुछ लक्षण दिखायी दे रहे हैं)–हर हालत में, नयी क्रान्ति की पूर्ववेला में, उसके घटित होने के समय में, और उसके बाद में हमारा आज का नारा होना चाहिए: सर्वहारा वर्ग का संगठन खड़ा करो!" *(सुदूर से तीसरा पत्र)*

अन्यत्र लेनिन यह दिखलाते हैं कि जब तक कि समाजवादी क्रान्ति की स्थितियाँ तैयार नहीं होतीं, तब तक किस प्रकार सर्वहारा वर्ग व्यापक ग़रीब किसान आबादी के साथ मिलकर बुर्जुआ सरकार पर इस बात के लिए क्रान्तिकारी जनदबाव निर्मित करता है कि वह जनवादी क्रान्ति की उपलब्धियों को सामन्तों के हाथों नीलाम न करे और बचे-खुचे कार्यभारों को रैडिकल तरीके से पूरा करे (एक बार फिर श्यामसुन्दर की इस बात के जवाब में कि हमारे अनुसार 1947 से जनवादी कार्यभारों के मुख्य रूप में पूरा होने तक एक सही कम्युनिस्ट पार्टी का क्या कार्यभार होना चाहिए था, क्योंकि उनके अनुसार हर दौर ही क्रान्तिकारी परिस्थिति होता है और हर वक्त यह बात होनी चाहिए कि क्रान्ति की रणनीति क्या है; इसका भी कारण यह है कि वह समझते हैं क्रान्ति की रणनीति का अर्थ हमेशा राज्यसत्ता पर तत्काल कब्ज़े के सवाल को हल करना है, और इसके लिए वे हिन्दी व्याकरण का पाठ पढ़ाते हुए 'रणनीति' शब्द का सन्धि-विच्छेद करते हैं! निश्चित तौर पर, श्यामसुन्दर म्युनिसपैलिटी के स्कूल में हिन्दी व्याकरण के मास्टरजी की भूमिका अच्छी तरह से निभा सकते हैं, लेकिन अफसोस की वह दार्शनिक बनने का प्रयास कर रहे हैं!) लेनिन के इस उद्धरण पर ग़ौर करें:

"स्वतन्त्रता का वायदा करते हुए, नयी सरकार वास्तव में ज़ार के परिवार, यानी कि राजवंश, से बातचीत कर रही है ताकि राजतन्त्र को पुनर्स्थापित किया जा सके। उसने मिखाईल रोमानोव को रीजेण्ट बनने के लिए आमन्त्रित किया है, जिसका अर्थ होगा, अस्थायी ज़ार। रूस में ज़ारशाही पुनर्स्थापित कर दी गयी होती, बशर्ते कि गुचकोव और मिल्युकोव को मज़दूरों ने रोका न होता जिन्होंने अपने झण्डों पर इन नारों के साथ सेण्ट पीटर्सबर्ग की सड़कों पर जुलूस निकाला: "ज़मीन और आज़ादी! अत्याचारियों को मृत्युदण्ड!"–जिन्होंने, घुड़सवार सैनिक रेजिमेण्टों के साथ दूमा के समक्ष चौक पर इकट्ठा होकर इन नारों के साथ अपने झण्डे लहराये: "सभी देशों के समाजवादी गणराज्य ज़िन्दाबाद!" गुचकोवों-मिल्युकोवों के मित्र मिखाइल रोमानोव के यह समझ में आ गया कि इसी समय, यानी कि संविधान सभा द्वारा राजगद्दी पर चुनाव के ज़रिये बिठा दिये जाने के पहले ही, इस प्रस्ताव को अस्वीकार करने देने में ही समझदारी है, और रूस–अस्थायी तौर पर–एक गणराज्य बना रहा।

"सरकार ने भूतपूर्व ज़ार को उसकी स्वतन्त्रता से मरहूम नहीं किया। तो मज़दूरों ने उसे गिरफ्तार करने के लिए उसे बाध्य कर दिया। सरकार चाहती थी कि सेना की कमान निकोलाई निकोलायेविच रोमानोव को सौंप दी जाये। तो मज़दूरों ने उसे हटा दिये जाने के लिए सरकार को बाध्य कर दिया। जाहिर है, कि अगर मज़दूर व सैनिक प्रतिनिधियों की सोवियत न होती, तो ज़मींदार, लवोव-गुचकोव जैसे लोग, रोमानोव या किसी अन्य ज़मींदार के साथ समझौता कर लेते।" *(रूस में क्रान्ति और सभी देशों के मज़दूरों के कार्यभार, 12 (25) मार्च, 1917 को लिखित)*

इससे ज़्यादा स्पष्ट नहीं हुआ जा सकता है। श्यामसुन्दर ने कोटेशन छाँटने में दो महीने लगाने के बावजूद ठीक से कोटेशन नहीं छाँटे हैं। बहरहाल, "असीम मानवीय मूर्खता" के सूत्रीकरण पर अमल करने वाले व्यक्ति से ऐसी उम्मीद करना भी व्यर्थ है। अब देखिये कि श्यामसुन्दर की यह बात कितनी हास्यास्पद है: "रूस में जब सत्ता पूँजीपति वर्ग के हाथ में आई तो न तो भूमि-प्रश्न हल हुआ था (ग़लत! अधूरा था। – लेखक), न ही पूँजीवादी जनवादी क्रान्ति उसके अंजाम तक पहुँची, तो भी लेनिन ने लाल तारावादियों की भाँति बोल्शेविकों को यह कार्यक्रम नहीं दिया कि पूँजीपति वर्ग की सरकार के ख़िलाफ़ दबाव बनाओ तथा भूमि प्रश्न हल कराओ, जनवादी क्रान्ति को पूरा कराओ और तब कहीं जाकर पूँजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ समाजवादी क्रान्ति का नारा देने की स्थिति तैयार होगी।" अब आप ही बताइये कि अगर कलायत बहस में और उसके पहले भी हमारे संगठन के एक कॉमरेड द्वारा श्यामसुन्दर को कहा गया कि वह मार्क्सवाद का ठीक से अध्ययन करें, तो क्या ग़लत कहा गया? और अब तो यह भी नहीं कहा जा सकता कि मार्क्सवाद का ठीक से अध्ययन करो, क्योंकि यह महोदय तो मार्क्सवाद को पढ़कर भी समझ नहीं पाते हैं।

मूर्खता की अगली सीढ़ी पर श्यामसुन्दर का सुन्दर पदार्पण

इसके बाद श्यामसुन्दर मूर्खता की कुतुबमीनार के शिखर पर पहुँचने के लिए एक और सीढ़ी चढ़ते हैं। वह कहते हैं कि हमें इस बात की समझ नहीं है कि क्रान्तिकारी युग का पूँजीपति वर्ग और प्रतिक्रियावादी दौर का पूँजीपति वर्ग अलग होता है। वह बताते हैं कि साम्राज्यवाद के दौर में पूँजीपति वर्ग जनवादी कार्यभारों को पूरा कर ही नहीं सकता इसलिए जनवादी क्रान्ति और समाजवादी क्रान्ति के बीच कोई अभेद्य दीवार नहीं रह जाती और इसलिए सर्वहारा वर्ग जनवादी क्रान्ति को ही समाजवादी क्रान्ति तक पहुँचा देता है। श्यामसुन्दर ने यहाँ पर जो राजनीतिक द्रविड़ प्राणायाम किया है उसके साथ कुछ गम्भीर दिक्कतें हैं। पहली बात, जो सिद्धान्त श्यामसुन्दर जबरन लेनिन पर मढ़ना चाहते हैं, वह त्रात्स्की का **अबाधित क्रान्ति (अनइण्टरप्टेड रिवोल्यूशन)** का सिद्धान्त है, जिसके अनुसार हर स्थिति में आज के दौर में जनवादी क्रान्ति (चाहे वह स्वयं

सर्वहारा वर्ग सम्पन्न करे या बुर्जुआ वर्ग) बिना रुके समाजवादी क्रान्ति तक पहुँच जायेगी। त्रात्स्की के अबाधित क्रान्ति के वामपंथी बचकाने सिद्धान्त को श्यामसुन्दर ने लेनिन के जनवादी और समाजवादी क्रान्तियों में साम्राज्यवाद के दौर में कोई कृत्रिम अभेद्य दीवार न होने के सिद्धान्त के साथ गड्डमड्ड कर दिया है। लेनिन ने इस बात का कोई सामान्यीकरण नहीं किया है कि हर स्थिति में साम्राज्यवाद के दौर में ऐसा ही होगा। रूसी क्रान्ति में ऐसा होने के कुछ विशिष्ट कारण थे: (1) रूस में पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था और सम्बन्ध पहले ही विकसित हो चुके थे, और फरवरी क्रान्ति ने राज्यसत्ता के सवाल को हल करने की औपचारिकता निभा दी, (2) प्रथम विश्वयुद्ध ने रोटी और शान्ति के सवाल को जनता का ध्रुवीकरण और क्रान्तिकारी रूपान्तरण करने वाला निर्णायक प्रश्न बना दिया और बुर्जुआ शासक वर्ग के लिए एक संकट पैदा कर दिया जो कि युद्ध के दौर में इन सवालों को हल नहीं कर सकता था, (3) इसी के फलस्वरूप मज़दूरों और सैनिकों के प्रतिनिधियों की सोवियतों का अस्तित्व में आना जो कि मज़दूरों और किसानों के जनवादी अधिनायकत्व का प्रतिनिधित्व करती थी, और मुख्य तौर पर बुर्जुआ वर्ग के हाथ में सत्ता आने से नहीं बल्कि सोवियतों के अस्तित्व में आने से राज्यसत्ता का प्रश्न हल हुआ। इन विशिष्ट कारणों के चलते रूस में जनवादी क्रान्ति ही बिना रुके समाजवादी क्रान्ति तक पहुँच गयी। लेनिन के इस उद्धरण पर ग़ौर करें:

"लेकिन, इस मुद्दे पर हम उन लोगों को विरोध में शोर मचाते सुनते हैं जो अपने को सहर्ष "पुराना बोल्शेविक" कहते हैं। वे कहते हैं कि क्या हमने हमेशा यह नहीं माना था कि पूँजीवादी जनवादी क्रान्ति केवल मज़दूरों और किसानों के क्रान्तिकारी जनवादी अधिनायकत्व द्वारा ही पूरी होती है? क्या कृषि क्रान्ति, जो पूँजीवादी जनवादी क्रान्ति ही है, पूरी हो गयी है? क्या इसके विपरीत यह तथ्य नहीं है कि वह अभी शुरू भी नहीं हुई है? (यहाँ भूमि क्रान्ति से लेनिन का अर्थ पुनर्वितरणकारी भूमि सुधारों (रीडिस्ट्रीब्यूटिव लैण्ड रिफॉर्म) से है-लेखक)

"मेरा उत्तर है: इतिहास ने बोल्शेविकों के नारों और विचारों की कुल मिलाकर पुष्टि कर दी है। लेकिन ठोस रूप में घटनाएँ दूसरे ढंग से घटित हुई हैं। वे किसी की भी आशा के विपरीत अधिक मौलिक, अधिक विचित्र और अधिक विविधतापूर्ण हैं।

"इस तथ्य को भूलने या नज़रअन्दाज़ करने का अर्थ होगा कि हम उन "पुराने बोल्शेविकों" का अनुसरण करने लगेंगे जिन्होंने नयी और सजीव वास्तविकता के विशेष लक्षणों का अध्ययन करने की बजाय रटे-रटाये सूत्रों को निरर्थक ढंग से दुहराते हुए हमारी पार्टी के इतिहास में अनेक बार अत्यन्त अफसोसनाक भूमिका अदा की है।

"रूसी क्रान्ति में, "मज़दूरों-किसानों का क्रान्तिकारी जनवादी अधिनायकत्व" एक वास्तविकता बन चुका है, क्योंकि इस सूत्र में केवल वर्गों के सम्बन्ध की परिकल्पना की गयी है, न कि इस सम्बन्ध, इस सहयोग को कार्यान्वित करने वाले एक ठोस राजनीतिक संस्था की। "मज़दूरों और सैनिकों के प्रतिनिधियों की सोवियतों" के रूप में, "मज़दूरों और किसानों का क्रान्तिकारी जनवादी अधिनायकत्व" वास्तविक रूप ग्रहण कर चुका है।" *(पहला पत्र, वर्तमान परिस्थिति का मूल्यांकन, 'कार्यनीति के बारे में पत्र' से, 8 से 13 (21 से 26) अप्रैल 1917 के बीच लिखित)*

ज़रा ग़ौर कीजिये कि लेनिन यहाँ क्या स्पष्ट कर रहे हैं। लेनिन के अनुसार रूस में राजसत्ता का प्रश्न इसलिए हल नहीं माना जा सकता कि गुचकोव-मिल्युकोव के नेतृत्व में एक बुर्जुआ सरकार की स्थापना हो गयी। उसे इसलिए पूरा माना जायेगा कि रूस में दोहरी सत्ता का एक ढाँचा पैदा हुआ और मज़दूरों-किसानों की जनवादी तानाशाही अस्तित्व में आ चुकी थी। रूस निश्चित रूप से और सटीक तौर पर इसलिए जनवादी क्रान्ति से बिना रुके समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में जा सकता था क्योंकि राज्यसत्ता का प्रश्न गुचकोव-मिल्युकोव की आरज़ी बुर्जुआ सरकार के ज़रिये नहीं, बल्कि मज़दूरों-किसानों की सोवियत के रूप में हल हुआ था। सम्भवत:, अब श्यामसुन्दर की कठदलीली पाठकों के सामने स्पष्ट हो रही होगी। जिस

प्रकार रूस में महज़ बुर्जुआ वर्ग के सत्ता में काबिज होने के कारण ही समाजवादी क्रान्ति का नारा तत्काल नहीं दिया जा सकता था (और उसे तत्काल सिर्फ़ इसलिए दिया जा सका क्योंकि मज़दूर-किसान सोवियतों के रूप में मज़दूरों और किसानों की जनवादी तानाशाही साकार हुई और राज्यसत्ता का प्रश्न पूरी तरह हल हुआ, जैसा कि लेनिन ने ऊपर स्पष्ट किया है), उसी प्रकार, भारत में भी महज़ पूँजीपति वर्ग के सत्ता में आ जाने (वह भी वर्ग संघर्ष के चरमबिन्दु पर पहुँचने और क्रान्ति होने के जरिये नहीं बल्कि एक, हम फिर से कहेंगे, अस्वाभाविक, अनैसर्गिक सत्ता हस्तान्तरण के ज़रिये!) से तत्काल समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल तय नहीं हो जाती। तो एक बात तो हमने पहले ही स्पष्ट की है कि अगस्त, 1947 के भारत के विपरीत रूस में फरवरी, 1917 के पहले ही मुख्य तौर पर पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे और एक पिछड़ी हुई राज्यसत्ता की जगह बुर्जुआ राज्यसत्ता की स्थापना एक औपचारिकता थी, जो कि लेनिन के अनुसार विश्वयुद्ध और मज़दूरों-किसानों के जनान्दोलनों के कारण 8 सप्ताह के छोटे से कालखण्ड में सम्पन्न हो गयी, और इसीलिए फरवरी 1917 की क्रान्ति के बाद समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल के लिए रूसी पार्टी को अधिक इन्तज़ार करने की ज़रूरत नहीं थी। इतना समझाने के बावजूद श्यामसुन्दर के दिमाग़ की छकड़ा-गाड़ी राज्यसत्ता के सवाल पर अटक जाती है! तो इसके लिए हम उन्हें कहेंगे कि लेनिन का उपरोक्त उद्धरण कई बार पढ़ें, क्योंकि एक बार पढ़ने में सम्भवत: अक्सर वह समझ नहीं पाते और ग़लत व्याख्या कर बैठते हैं! इसमें लेनिन ने इसमें स्पष्ट कर दिया है कि राज्यसत्ता का प्रश्न इसलिए हल माना जाना चाहिए क्योंकि मज़दूरों और किसानों की सोवियत के रूप में मज़दूरों और किसानों की जनवादी तानाशाही साकार रूप धारण कर चुकी थी, और इसके बाद का अगला नैसर्गिक चरण समाजवादी क्रान्ति था। लेकिन क्या यही बात अगस्त, 1947 के भारत के बारे में कही जा सकती है? क्या मज़दूरों-किसानों की जनवादी तानाशाही की कोई संस्था मौजूद थी? राजनीतिक मोतियाबिन्द का श्यामसुन्दर की हद तक शिकार कोई व्यक्ति ही ऐसी बात भारत के विषय में कह सकता है। आगे लेनिन क्या कहते हैं, स्वयं देखिये:

"किन्तु क्या हमारे लिए मनोगतवाद का शिकार बनने का ख़तरा नहीं है? क्या यह ख़तरा नहीं है कि हम पूँजीवादी जनवादी क्रान्ति को "लाँघकर," जो अभी पूरी नहीं हुई और जिसने अभी किसान आन्दोलन को समाप्त नहीं किया है, समाजवादी क्रान्ति पर पहुँचना चाहते हैं?

"मैं इस ख़तरे का शिकार हो सकता था अगर मैं यह कहता कि : "ज़ार नहीं चाहिए, बल्कि मज़दूरों की सरकार चाहिए।" लेकिन मैंने ऐसा नहीं कहा। मैंने कुछ और कहा। मैंने कहा कि रूस में मज़दूरों, खेत मज़दूरों, सैनिकों और किसानों के प्रतिनिधियों की सोवियतों के अलावा और कोई सरकार (पूँजीवादी सरकार को छोड़कर) नहीं बन सकती। मैंने कहा कि रूस में सत्ता गुचकोव और लवोव के हाथों से निकलकर अब केवल इन सोवियतों के पास ही जा सकती है। और, इन सोवियतों में, जैसी कि स्थिति है, अगर हम वैज्ञानिक मार्क्सवादी शब्दावली का प्रयोग करें, और उनका चरित्र-चित्रण एक सामान्य आदमी की तरह व्यावसायिक ढंग से न करके वर्गीय आधार पर करें तो उनमें किसानों, सैनिकों, अर्थात् निम्न पूँजीवादी वर्ग के लोगों का बाहुल्य है।

"मैंने अपनी थीसिसों में किसान आन्दोलन–जो अभी समाप्त नहीं हुआ है या आम तौर पर निम्न-पूँजीवादी आन्दोलन को लाँघने के विरुद्ध, मज़दूरों की सरकार द्वारा "सत्ता पर अधिकार" करने के खेल के विरुद्ध, किसी भी प्रकार के ब्लांकीवादी दुस्साहसवाद के विरुद्ध, अपनी स्थिति को सुनिश्चित कर लिया था क्योंकि मैंने पेरिस कम्यून का उल्लेख विशेष रूप से किया था। यह अनुभव, जैसा कि हम जानते हैं और जैसा कि मार्क्स ने 1871 में और एंगेल्स ने 1891 में विस्तार से सिद्ध किया था, ब्लांकीवाद का वर्जन पूर्ण रूप से करता है और बहुमत के सीधे, निकटतम और निर्विवाद शासन तथा जनता की कार्यवाही को केवल उसी हद तक जिस हद तक बहुमत स्वयं सचेतन रूप से कार्य करता है–मुकम्मिल तौर पर सुनिश्चित बनाता है।

"थीसिसों में मैंने इस सवाल को निश्चित रूप से खेत मज़दूरों, किसानों और सैनिकों की प्रतिनिधियों की सोवियतों के भीतर प्रभाव के लिए संघर्ष का सवाल बना दिया था। इस मुद्दे पर सन्देह की ज़रा भी गुंजाइश न रखने के लिए मैंने थीसिसों में, "जनता की व्यावहारिक आवश्यकताओं के अनुसार" धीरज के साथ और लगातार "स्पष्टीकरण" किये जाने के कार्य की आवश्यकता पर दो बार ज़ोर दिया था।" *(वही)*

यहाँ लेनिन ने स्पष्ट किया है कि जब तक कि सोवियतों में लगातार राजनीतिक प्रचार कर सत्ता पर कब्ज़े के नारे पर सहमति नहीं बनायी जाती, जब तक कि मज़दूरों और किसानों के जनवादी अधिनायकत्व की नुमाइन्दगी करने वाली सोवियत बुर्जुआ सरकार की दुमछल्ला बनने की बजाय स्वतन्त्र राजनीतिक भूमिका निभाने की स्थिति में नहीं आती, तब तक समाजवादी क्रान्ति का नारा नहीं दिया जा सकता और तब तक सोवियत अधिक से अधिक जनवादी क्रान्ति की उपलब्धियों की हिफ़ाज़त करने के लिए ही लड़ सकती है। लेनिन ने काऊत्स्की द्वारा रूसी क्रान्ति की आलोचना के जवाब में क्या लिखा है, इस पर ग़ौर करना दिलचस्प होगा:

"हाँ, हमारी क्रान्ति एक बुर्जुआ क्रान्ति है, जिस हद तक हम पूरे किसान वर्ग के साथ चल रहे हैं। यह हमें जितना स्पष्ट हो सकता है, उतना स्पष्ट था, हमने 1905 से ही इसे सैंकड़ों-हज़ारों बार कहा है, और हमने ऐतिहासिक प्रक्रिया के अनिवार्य चरण को लाँघने, या इसे आदेशों से उन्मूलित करने का कभी प्रयास नहीं किया है... लेकिन अप्रैल 1917 की शुरुआत के बाद, यानी अक्टूबर क्रान्ति के काफ़ी पहले, यानी कि हमारे द्वारा सत्ता पर कब्ज़ा किये जाने के काफ़ी पहले, हमने सार्वजनिक तौर पर घोषणा की और लोगों को समझायाः *अब* क्रान्ति इस चरण पर नहीं रुक सकती है, क्योंकि देश आगे चला आया है, पूँजीवाद विकसित हो चुका है, बरबादी अभूतपूर्व सीमाओं तक पहुँच चुकी है, जो (चाहे कोई चाहे या न चाहे) आगे, समाजवाद की ओर कदम बढ़ाने की माँग करेगा। क्योंकि आगे बढ़ने का और कोई रास्ता नहीं है, युद्ध से क्लान्त देश को बचाने का और मेहनतकशों और शोषितों की तकलीफ़ों को दूर करने का कोई दूसरा रास्ता नहीं है।" (*लेनिन, सर्वहारा क्रान्ति और ग़द्दार काऊत्स्की*)

यहाँ पर एक और प्रसंग के ज़िक्र से श्यामसुन्दर कुछ सीख सकते हैं। रूसी क्रान्ति के बाद काऊत्स्की ने रूसी क्रान्ति की आलोचना करते हुए कई पुस्तकें लिखीं। इनका जवाब देने वाली प्रमुख बोल्शेविक रचना लेनिन की थी, जिसे हम अभी-अभी ऊपर उद्धृत कर चुके हैं। उसके बाद लेनिन ने काऊत्स्की का जवाब देना ज़रूरी नहीं समझा और इस काम को त्रात्स्की ने किया। ग़ौरतलब है कि 1924 में लिखी गयी अपनी एक रचना (*दि लेसंस ऑफ़ अक्टूबर*) के पहले **त्रात्स्की** ने कभी खुद यह दावा नहीं किया था कि लेनिन उसके स्थायी क्रान्ति या अबाधित क्रान्ति सिद्धान्त पर आ गये थे। लेनिन की मृत्यु के बाद ही त्रात्स्की ने ऐसा दावा किया। उसके पहले वह स्वयं दो चरणों में क्रान्ति को एक प्रकार से मौन स्वीकृति दिये हुए थे। **1917 से 1924 का दौर त्रात्स्की का अपेक्षाकृत सकारात्मक दौर था।** इस समय त्रात्स्की ने रूसी क्रान्ति की आकस्मिकता को स्पष्ट करते हुए (*'टेररिज़्म एण्ड कम्युनिज़्म'*, 1920) लिखा था कि रूसी मज़दूर वर्ग के लिए अक्टूबर 1917 में क्रान्ति करना कोई चयन का मसला नहीं था। कुछ आकस्मिक और अपवादस्वरूप कारकों ने रूसी मज़दूर वर्ग को इतिहास के रंगमंच के केन्द्र में आने के लिए मजबूर कर दिया था। बोल्शेविकों के पास सत्ता पर कब्ज़े के अलावा और कोई रास्ता नहीं था। जब काऊत्स्की ने कहा कि बोल्शेविक समय से पहले सत्ता पर कब्ज़ा करके घुड़सवारी सीखे बिना एक घोड़े पर सवार हो गये हैं, तो उसके जवाब में त्रात्स्की एक जगह लिखते हैं: **"दूसरी ओर हमें डर है कि, घुड़सवारी करने का जोखिम उठाये बिना, काऊत्स्की को घुड़सवारी के नुस्खे सीखने में ख़ासी दिक्कतों का सामना करना पड़ेगा। क्योंकि बुनियादी बोल्शेविक पूर्वाग्रह यह हैः आदमी घोड़े की पीठ पर बैठकर ही घुड़सवारी सीख सकता है।"** इसके बाद त्रात्स्की ने लिखा कि रूसी मज़दूर वर्ग को कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में इस *घोड़े* पर सवार होना पड़ा क्योंकि अगर वह नहीं

होता तो वह इतिहास के रंगमंच से लम्बे समय के लिए उठाकर बाहर फेंक दिया जाता। क्यों सर्वहारा वर्ग इस घोड़े पर सवार होने के लिए मजबूर हुआ? इसके बारे में लेनिन का निम्न उद्धरण दृष्टि को साफ़ कर देता है:

"हमारी क्रान्ति का मुख्य लक्षण जिस पर सबसे अधिक गम्भीर रूप में विचार करना चाहिए, दोहरी सत्ता है जो क्रान्ति की विजय के बाद सबसे प्रारम्भिक दिनों में पैदा हुई।

"यह दोहरी सत्ता दो सरकारों के अस्तित्व के रूप में सुस्पष्ट है: पहली मुख्य, वास्तविक और यथार्थ में पूँजीपतियों की सरकार है, लवोव और उनकी मण्डली की अस्थायी सरकार है जिसके हाथ में सत्ता के सभी अंग हैं। दूसरी एक पूरक और समानान्तर सरकार मज़दूरों और सैनिकों के प्रतिनिधियों की पेत्रोग्राद सोवियत के रूप में "नियन्त्रण करने वाली" सरकार है जिसके हाथों में राज्यसत्ता का कोई अंग नहीं है किन्तु वह जनता के स्पष्ट और निर्विवाद बहुमत, हथियारबन्द मज़दूरों और किसानों के समर्थन पर आधारित है।

"इस दोहरी राज्यसत्ता का वर्गीय उद्गम और वर्गीय महत्व निम्नलिखित है: मार्च 1917 की रूसी क्रान्ति ने न केवल पूरे ज़ारशाही राजतन्त्र का सफ़ाया कर दिया, न केवल पूरी सत्ता पूँजीपतियों को हस्तान्तरित कर दी बल्कि वह मज़दूरों और किसानों के क्रान्तिकारी जनवादी अधिनायकत्व के बहुत सन्निकट पहुँच गयी। पेत्रोग्राद और अन्य स्थानीय सोवियतें इसी प्रकार के अधिनायकत्व का गठन करती हैं, (अर्थात् ऐसी सत्ता जो कानून पर नहीं बल्कि सीधे हथियारबन्द जनता की शक्ति पर आधारित है) वस्तुतः वह उपरोक्त वर्गों का अधिनायकत्व है।" *(लेनिन, हमारी क्रान्ति में सर्वहारा वर्ग के कार्यभार)*

लेनिन के अनुसार दो आकस्मिक कारण जिनके कारण रूसी क्रान्ति बिना रुके समाजवादी क्रान्ति तक जा सकती थी उनमें से एक कारण था दोहरी सत्ता। दूसरा कारण था साम्राज्यवादी युद्ध के कारण बुर्जुआ सत्ता के असंभाव्यता के बिन्दु पर इतिहास का जल्दी पहुँच जाना, जिन्हें हम ऊपर लेनिन के उद्धरणों के जरिये स्पष्ट कर चुके हैं। और तीसरा, बेहद अहम कारण था रूस में पहले से ही पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों का प्रमुखता के साथ स्थापित हो जाना और पूँजीपति वर्ग का फरवरी क्रान्ति से पहले ही समाज में शासक वर्ग जैसी स्थिति में आ जाना। आइये अब इस विषय पर भी लेनिन के विचारों पर ग़ौर करें:

"वे उस नये वर्ग के प्रतिनिधि हैं जिसने रूस में राजनीतिक सत्ता प्राप्त की है। यह वर्ग पूँजीवादी ज़मीन्दारों और पूँजीपतियों का वर्ग है, जो हमारे देश पर आर्थिक रूप से एक अर्से से शासन करता आ रहा है। इस वर्ग ने 1905-07 की क्रान्ति के दौरान, 1907-14 के प्रतिक्रान्तिकारी दौर में और अन्ततः 1914-17 के युद्ध के दौर में विशेष तीव्रता के साथ अपने को राजनीतिक तौर पर संगठित कर लिया था; स्थानीय सरकारी संस्थाओं, सार्वजनिक शिक्षा, विभिन्न प्रकार की कांग्रेसों, दूमा, युद्ध उद्योगों से सम्बन्धित समितियों वगैरह पर अधिकार कर लिया था। यह नया वर्ग 1917 तक "करीब-करीब पूरे तौर पर" सत्ता में आ गया था। अतः वह चाहता था कि कुछ हल्के प्रहार किये जायें ताकि ज़ारशाही को धराशायी करके पूँजीपति वर्ग के लिए रास्ता साफ़ किया जा सके। साम्राज्यवादी युद्ध–जिसके लिए अपरिमित प्रयासों की आवश्यकता पड़ी थी–ने पिछड़े हुए रूस के विकास-क्रम को इतना तेज़ कर दिया है कि हम "एक धक्के में" (देखने में एक धक्के में) ही इटली, इंग्लैण्ड और करीब-करीब फ्रांस के समकक्ष आ गये हैं।" *(लेनिन, सुदूर से पहला पत्र)*

क्या यही बात अगस्त, 1947 के भारत के बारे में कही जा सकती है? श्यामसुन्दर विवेक-दलन के अपने अभियान में ही ऐसी बात कह सकते हैं!

एक अन्य स्थान पर श्यामसुन्दर मूर्खता का एक और गहना पेश करते हैं। वे कहते हैं कि 'सर्वहारा क्रान्ति और ग़द्दार काऊत्स्की' के जिस उद्धरण में मैंने यह माना है कि लेनिन फरवरी और अक्टूबर क्रान्ति की बात कर रहे हैं, वहाँ वह वास्तव में अक्टूबर क्रान्ति के बाद की घटनाओं के बारे में बात कर रहे हैं। आइये एक बार लेनिन के उस उद्धरण पर ग़ौर करें:

"शुरू में 'पूरे' किसान वर्ग को साथ लेकर राजतन्त्र के खिलाफ़, ज़मींदारों के खिलाफ़ मध्ययुगीन शासन-व्यवस्था के खिलाफ़ (और उस हद तक क्रान्ति पूँजीवादी, पूँजीवादी-जनवादी क्रान्ति रहती है)। फिर, गरीब किसानों को साथ लेकर, अर्ध-सर्वहारागण को साथ लेकर, सारे शोषितों को साथ लेकर पूँजीवाद के ख़िलाफ़, जिसमें गाँव के धनिक, कुलक, मुनाफ़ाखोर शामिल हैं, और उस हद तक क्रान्ति समाजवादी बन जाती है।"

श्यामसुन्दर का कहना है कि राजतन्त्र विरुद्ध संघर्ष के बारे में जब लेनिन बात कर रहे हैं तो वह अक्टूबर के बाद के घटनाक्रम के बारे में बात कर रहे हैं! अब यह तो श्यामसुन्दर ही बता सकते हैं कि अक्टूबर के बाद राजतन्त्र के खिलाफ़ संघर्ष किस प्रकार होता, जब वहाँ राजतन्त्र था ही नहीं। फरवरी क्रान्ति के बाद बुर्जुआ सरकार ने एक बार ज़ार के भाई मिखाईल रोमानोव को अस्थायी ज़ार बनाकर राजतन्त्र की स्थापना की कोशिश की थी, जिसे मज़दूरों के आन्दोलन ने नाकाम कर दिया था। उसके बाद ऐसी कोई भी कोशिश बुर्जुआ सरकार ने भी नहीं की थी। ऐसे में, अक्टूबर के बाद राजतन्त्र के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए बोल्शेविकों को स्वर्गिक राज्य की यात्रा करनी पड़ती क्योंकि जुलाई, 1918 में ज़ार को उसके परिवार समेत ख़त्म कर दिया गया था! लेकिन कभी-कभी मूर्खता ऐसे-ऐसे चमत्कार कर देती है, जिसे महान प्रतिभाएँ भी अंजाम नहीं दे सकतीं, जैसा कि श्यामसुन्दर ने उपरोक्त कथन में कर दिखाया है। लेनिन उपरोक्त उद्धरणों में जहाँ राजतन्त्र विरोधी संघर्ष की बात कर रहे हैं, उससे उनका अर्थ है फरवरी क्रान्ति और उसके बाद के दौर में बुर्जुआ सरकार द्वारा राजतन्त्र की पुनर्स्थापना की साज़िश (जिसमें ज़ार के भाई को अस्थायी ज़ार बनाने की कोशिश की गयी थी और जब ज़ार को सेनाओं का प्रमुख बनाने की बात कही गयी थी) जिसे कि मज़दूरों ने विफल कर दिया था। और जहाँ वे पूँजीवाद के विरुद्ध समस्त शोषित आबादी के संघर्ष की बात कर रहे हैं, वहाँ वह अक्टूबर क्रान्ति और उसके बाद के घटना-क्रम की बात कर रहे हैं।

भारत में पूँजीवादी कृषि के विकास के सम्बन्ध में श्यामसुन्दर के विचित्र विचार

श्यामसुन्दर हमारा ज्ञानवर्धन करते हैं और हमें बताते हैं कि ज़मीन को ख़रीद-फ़रोख़्त की वस्तु अंग्रेज़ों के काल में ही बना दिया गया था। कोई आठवीं का विद्यार्थी भी यह बात जानता है। लेकिन केवल ज़मीन को ख़रीद-फ़रोख़्त की वस्तु बनाने से कृषि में पूँजीवाद का विकास नहीं होता। दुनिया के बहुत-से ऐसे देश हैं जहाँ सामन्तवाद के ऐसे संस्करण पाये गये हैं, जिसमें ज़मीन शुरू से ही ख़रीद-फ़रोख़्त की वस्तु थी। वास्तव में, यह पूँजीवादी विकास का केवल एक और दरअसल अप्रमुख पैमाना है। क्योंकि कई पूँजीवादी देशों ने ज़मीन का राष्ट्रीयकरण करने के बाद व्यक्तिगत किसानों को ज़मीन के एक टुकड़े का भोगाधिकार दिया और ज़मीन को बेचा-ख़रीदा नहीं जा सकता था। ज़मीन पूरे राष्ट्र की सम्पत्ति था। इसी को लेनिन ने कृषि का पूँजीवादी राष्ट्रीयकरण कहा था। इसलिए ज़मीन का ख़रीद-फ़रोख़्त का वस्तु बनना मात्र एक अप्रमुख कसौटी है जिसका लेनिन ने ज़िक्र किया है। असल पैमाना है एकीकृत राष्ट्रीय बाज़ार का विकास, किसान आबादी का विभेदीकरण और "द्वैध रूप से मुक्त" श्रमिक वर्ग का अस्तित्व में आना, सामन्ती लगान की जगह पूँजीवादी लगान का आना, और उत्पादन उपभोग के लिए नहीं बल्कि विपणन हेतु होना। ज़मीन के ख़रीद-फ़रोख़्त की बात इसके बाद आती है। लेकिन एकमात्र

अप्रमुख पैमाने के आधार पर श्यामसुन्दर जबरन यह साबित करने पर आमादा हो गये हैं कि भारत में कृषि में इतना पूँजीवादी विकास हो गया था कि समाजवादी क्रान्ति और सामूहिकीकरण का नारा दिया जा सकता था। इसके लिए वह मुझसे पूछते हैं कि जैसे रूस में 1917 के बाद किसानों को सामूहिकीकरण पर सहमत कर दिया गया था वैसे ही भारत में अगस्त 1947 के बाद किसानों को सामूहिकीकरण पर सहमत क्यों नहीं किया जा सकता है? यह सवाल पूछना वैसा ही है मानो कोई पूछे कि 'आदमी के चार पैर क्यों होते हैं?' जाहिर है! यह सवाल ही ग़लत है। आदमी के दो पैर होते हैं, इसलिए इस सवाल का जवाब नहीं दिया जा सकता है कि उसके चार पैर क्यों होते हैं! यह बात कहते ही उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि उन्होंने अक्टूबर क्रान्ति के बाद अपनाये गये भूमि कार्यक्रम को पढ़ा ही नहीं है। ताज्जुब की बात है कि राजनीतिक आन्दोलन में बाल सफेद कर लेने के बाद किसी साथी को इतना तक नहीं पता है कि 1931 से पहले बड़े पैमाने पर सामूहिकीकरण का नारा सोवियत संघ में कभी नहीं दिया गया था। उसके पहले पार्टी के तहत आ चुके खेतिहर मज़दूरों को कुछ-कुछ जगहों पर राज्य ने सामूहिक फार्मों में संगठित किया था, लेकिन वह भी 1920 के दशक की शुरुआत में, उससे पहले नहीं। श्यामसुन्दर ने किस किताब में पढ़ लिया कि 1917 की अक्टूबर क्रान्ति के बाद किसानों को सामूहिकीकरण के लिए सहमत किया गया था? बोल्शेविक पार्टी ने 'रीडिस्ट्रीब्यूटिव' भूमि सुधार किये जिनकी प्रकृति पूरी तरह पूँजीवादी थी। 1921 में **नयी आर्थिक नीतियों (नेप)** के लागू होने के साथ पूँजीवादी किसानों और बाज़ार की शक्तियों को आने वाले 10 वर्षों तक खुला हाथ दिया गया। इसकी वजह से कई जटिलताएँ बोल्शेविक पार्टी के सामने उपस्थित हुईं, जिन्हें **'सिज़र्स क्राइसिस'** और **'1929 के आपातकालीन कदम'** के नाम से जाना जाता है। अक्टूबर 1917 के बाद लागू भूमि सुधारों के बारे में वास्तव में एक पूरी बहस है जिसका यहाँ संक्षेप में ज़िक्र करना उपयोगी होगा।

बोल्शेविकों ने जब पूँजीवादी 'रीडिस्ट्रिब्यूटिव' भूमि सुधार किये तो काऊत्स्की ने कहा कि यह कदम सही है, लेकिन इसका इस्तेमाल उन्होंने यह साबित करने में किया कि रूसी क्रान्ति वास्तव में एक जनवादी क्रान्ति है। रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग ने कहा कि ये भूमि सुधार प्रतिक्रियावादी हैं और ये वास्तव में दूरगामी तौर पर मालिक किसानों के रूप में एक प्रतिक्रान्तिकारी वर्ग को जन्म देंगे, जो कि सामन्तों से भी ज़्यादा ज़िद्दी किस्म का प्रतिरोध करेंगे। लेनिन ने कहा कि हो सकता है कि ऐसा ही हो। लेकिन फिलहाल क्रान्ति और सर्वहारा सत्ता को जीवित रखने के लिए निम्न पूँजीपति वर्ग को कुछ छूट देनी पड़ेगी; इतिहास ने एक कम वर्ग-सचेत सर्वहारा वर्ग पर समाजवादी क्रान्ति को सम्पन्न करने का कार्यभार वक्त से पहले डाल दिया है; ऐसे में, निश्चित तौर पर कुछ ऐसी जटिलताएँ उपस्थित होंगी जिनसे बचा नहीं जा सकता है। मूल बात है कि पहले हर कीमत पर सर्वहारा सत्ता की हिफ़ाज़त की जाये और इसके लिए किसानों को कुछ छूट देना ज़रूरी है। गृहयुद्ध के चार वर्षों ने इसी बात को साबित किया। वास्तव में किसानों को यह छूट मिलने के बाद भी वे तुरन्त सर्वहारा सत्ता के पक्ष में नहीं आये और बीच-बीच में देनीकिन और कोल्चाक के प्रतिक्रान्तिकारी पक्ष की तरफ़ दोलन करते रहे! जहाँ-जहाँ कुछ दिनों के लिए श्वेत गार्डों का कब्ज़ा हुआ वहाँ-वहाँ उन्होंने किसानों पर ऐसे जुल्म ढाए कि उनके रोंगटे खड़े हो गये। दूसरी तरफ़, बोल्शेविक अपनी नीति में ईमानदार थे। इन दोनों कारकों को देखने के बाद ही अन्ततः किसान बोल्शेविकों के पक्ष में आये और 1931 तक बोल्शेविकों को पर्याप्त तंग करते रहे। **ग्यॉर्गी लूकाच** ने इसी बात को **'इतिहास और वर्ग चेतना'** नामक अपनी प्रसिद्ध रचना में चिन्हित किया है।

इस संक्षिप्त चर्चा के बाद इस प्रश्न पर आते हैं कि ज़मीन को ख़रीदने-बेचने के कानून ने क्या भारतीय कृषि में कोई पूँजीवादी विकास किया? क्या ब्रिटिश काल में भारतीय कृषि में पूँजीवादी सम्बन्ध प्रमुखतः स्थापित हो गये? अगर हाँ, तो जाहिरा तौर पर श्यामसुन्दर की यह बात सही होगी कि अगस्त, 1947 में ही समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल थी। लेकिन आइये तथ्यों पर ग़ौर करें।

प्रसिद्ध मार्क्सवादी इतिहासकार **सुमित सरकार** अपनी उत्कृष्ट पुस्तक **'आधुनिक भारत'** में भारतीय कृषि में सम्बन्धों पर रोशनी डालते हैं (पृ. 32-37)। हम उन्हें यहाँ शब्दश: उद्धृत नहीं कर रहे हैं क्योंकि इससे यह आलेख गैर-ज़रूरी तौर पर बहुत लम्बा हो जायेगा। यही काम अग्रणी मार्क्सवादी आर्थिक इतिहासकार **सब्यसाची भट्टाचार्य** ने भी किया है। आइये ग़ौर करें कि वह क्या कहते हैं: **"इसके नतीजे सबको मालूम हैं–ज़मींदारी की आय में वृद्धि के साथ कृषि में विनियोग और उत्पादन की दर में वृद्धि का कोई सम्बन्ध न था; ज़मींदार लोग लगान वसूल करने में बेहद तत्पर रहते थे पर कृषि की उन्नति के प्रति ज़रा भी उत्सुकता उनमें न थी। ज़्यादातर ज़मींदार प्रवासी थे। अर्थात गाँव में रहते ही न थे...** *" (भट्टाचार्य, 'आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास' पृ. 49)*

स्पष्ट है, यहाँ भट्टाचार्य इस तथ्य की ओर इशारा कर रहे हैं कृषि में पूँजी संचय हो ही नहीं रहा था। वह पूर्ण रूप से उपभोग के लिए थी। इसके बाद भट्टाचार्य यह भी प्रदर्शित करते हैं कि ज़मीन बेचने-ख़रीदने का अधिकार केवल ज़मींदारों, सूदखोरों और ज़मींदार के तहत काम करने वाले कारकूनों का था। अगर 'रीडिस्ट्रीब्यूटिव' भूमि सुधार किये बग़ैर, भूदासों को मुक्त किये बग़ैर और निर्भर सामन्ती काश्तकार को मालिक या पूँजीवादी काश्तकार बनाये बग़ैर ज़मीन को ख़रीदने-बेचने का कानून बना भी दिया जाय तो वह अधिकार सामन्त वर्ग के ही अलग-अलग हिस्सों विचरण करता रहेगा। आगे ध्यान दें: **"यह सच है कि 1793 और 1815 के बीच कमोबेश 40 प्रतिशत ज़मींदारी एक हाथ से दूसरे हाथ में चली गयी। इस बात को लेकर हाहाकार करने की एक प्रथा सी चल पड़ी है कि पुराने ज़मींदार चले गये और उनकी जगह व्यापारियों और बनियों ने ले ली है। यह सब बेकार की बातें हैं। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि पुराने ज़मींदार 'भले' थे। किसान का पैसा कोई मोचीराम, गुड़ का व्यापारी नहीं, कोई राजा उमेठता है, इसमें राजा के पक्षधरों के अलावा किसी के लिए सन्तोष का कोई कारण नहीं है। इसके अलावा, जिन नये लोगों के हाथ में ज़मीन गयी, उनमें से अधिकांश व्यापारी नहीं थे; वे थे ज़मींदारों के अमले, गुमाश्ते, पेशेवर लोग और दूसरे ज़मींदार, जो 'सूर्यास्त कानून' के शिकार ज़मींदारों की ज़मीनें ख़रीद लेते थे।"** *(वही, पृ.50)* सब्यसाची भट्टाचार्य ने अपनी उपरोक्त पुस्तक और **धर्मा कुमार** ने अपनी सम्पादित रचना **'दि कैम्ब्रिज इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया'** में दिखलाया है कि जिन क्षेत्रों में रैयतवाड़ी और महालवाड़ी बन्दोबस्त लागू हुए वहाँ भी कुछ समय में मालिक काश्तकार अनुपस्थित भूस्वामी बन गये और उन्होंने अपनी ज़मीन पर सामन्ती तरीके से बंधुआ व अर्ध-बंधुओं मज़दूरों के श्रम का दोहन शुरू किया। यानी कि सभी भूमि बन्दोबस्तों का मूल चरित्र अन्त तक सामन्ती बना रहा। सब्यसाची भट्टाचार्य बताते हैं कि अंग्रेज़ों ने जिस प्रकार का वाणिज्यीकरण भारतीय कृषि में किया उससे भारतीय कृषि के क्षेत्र में वर्गों और उत्पादन सम्बन्धों की स्थितियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उल्टे वे और कठोरता से सामन्ती बन गये। इस उद्धरण पर ग़ौर फरमायें: **"...औपनिवेशिक कृषि-उत्पादों के वाणिज्य की प्रक्रिया में किसानों की पराधीनता तरह-तरह से बढ़ती है: उत्पादन के विनियोग के लिए, अग्रिम मालगुज़ारी जमा करने या पेट पालने के लिए कर्ज़ लेना, अपना सामान बेचने के लिए बिचौलिये व्यापारी वर्ग के ऊपर निर्भर होना, इत्यादि। हम बाद में देखेंगे कि यह पराधीनता छोटे ग़रीब किसानों के मामले में बहुत बड़ा सच है। विकासमान और ग़रीब किसान के बीच बढ़ती हुई दूरी को बनाये रखने के लिए ऊपर बतायी गयी प्रक्रिया में और अनेक स्थानों पर विकासमान किसान महाजन की भूमिका में उतर पड़ता है। अनेक लोगों के मतानुसार कृषकों के निचले स्तरों पर कृषि वाणिज्य का प्रसार एक प्रकार का बलात वाणिज्यीकरण ही है, स्वैच्छिक और स्वाभाविक प्रक्रिया नहीं है।"** *(वही, पृ. 66)*

आगे देखें : **"पिरामिड के सबसे नीचे के तल्ले में भूमिहीन खेत मज़दूर हैं जिनकी संख्या 4 करोड़ 20 लाख है। यह खेती में लगी हुई जनसंख्या के 37.8 प्रतिशत हैं। इनके बीच कम-से-कम 30 लाख लोग ऐसे हैं जिन्हें क्रीतदास या बंधुआ मज़दूर कहा जाता है....ऋण देने वाला इन मज़दूरों के समूचे श्रम का मालिक था। खाना-कपड़ा के अलावा, आम तौर पर उन्हें कोई उजरत नहीं दी जाती थी। पास में पैसे न होने से इन मज़दूरों के लिए कर्ज़**

चुकाना प्रायः असम्भव था। कानूनी तौर पर ग़लत होते हुए भी प्रथा के रूप में यह दासता वंशक्रम से चलती रहती थी। एक बंधुआ मज़दूर का उत्तराधिकारी खुद को बंधुआ बना लेता था। ऋणदाता प्रायः मालिक की तरह इन बंधुआ मज़दूरों को दूसरे मालिक को सौंप सकता था।" *(वही, पृ. 70)*

इसके आगे भट्टाचार्य बताते हैं कि भारत में औपनिवेशिक दौर में कृषि में पूँजीवाद का विकास क्यों नहीं हुआ: **"1969 में डेनियल थॉर्नर ने जब यह प्रश्न उठाया था तब पूँजीवादी तरीके से खेती की परिभाषा उनके लिए थी–वेतन देकर मज़दूरी कराना, बाज़ार और लाभ की ओर निगाह रखकर कृषि पदार्थों का उत्पादन, बिक्री से प्राप्त मुनाफ़े के पैसों को पूँजी के रूप में खेती में निवेश करके उत्पादन में वृद्धि। 1970 में प्रोफेसर अशोक रुद्र ने अपने शोध-पत्र में और बड़ी परिभाषा का व्यवहार किया। इनमें से प्रमुख हैं: किसान अगर किसी और को स्वामित्व न देकर ज़मीन को अपने अधीन रखता है, अगर अपने परिवार के श्रम के अनुपात में भाड़े के मज़दूरों के श्रम का अधिक उपयोग करता है, अगर खेती के काम में मशीनों का उपयोग बढ़ता है, अगर उत्पादन का बड़ा भाग बाज़ार में जाता है, अगर उत्पादन में विनियोग मूलतः बाज़ार के लाभ के द्वारा परिचालित होता है, तो यह मानना पड़ेगा कि खेती पूँजीवादी तरीके से हो रही है।"** *(वही, पृ.72)* लेकिन भारत में ऐसा नहीं हो रहा था।

आगे भट्टाचार्य बताते हैं कि वाणिज्यिक खेती के औपनिवेशिक नियन्त्रण में शुरुआत के बावजूद पूँजीवादी खेती का विकास क्यों नहीं हुआ: **"इन सब तैयारियों के बावजूद कृषि-व्यवस्था में पूँजी का विकास क्यों नहीं हुआ? इस दिशा में इतिहासकारों के उत्तर आज भी अस्पष्ट हैं। एक सैद्धान्तिक प्रवृत्ति इस प्रकार की है: औपनिवेशिक अर्थनीति ने अर्धसामन्ती कृषि व्यवस्था को टिकाये रखा था। औपनिवेशिक सरकार पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को कानून के द्वारा स्थापित करती है, किन्तु उत्पादन व्यवस्था उसमें से जन्म नहीं लेती।....कृषि में विनियोग कम अथवा प्रायः नहीं हुआ, क्योंकि उत्पादन बढ़ाने के लिए कृषि पदार्थों के बाज़ार में वृद्धि से होने वाले लाभ किसान के हाथ में नहीं पहुँचे। इसका कुछ हिस्सा भूराजस्व के रूप में सरकार के पास पहुँचा, कुछ हिस्सा ज़मीन के मालिकों के पास लगान के रूप में पहुँचा और इसका एक बड़ा हिस्सा महाजनी कारोबारियों और बाज़ार के व्यवसायियों के हाथ में पहुँच गया। फलस्वरूप कृषि का बाज़ार तो बढ़ा पर पूँजी संचय नहीं हुआ...फिलहाल इतना कहा जा सकता है कि इतिहासकारों ने दिखाया है कि ख़ास औपनिवेशिक शासन में कृषि के वाणिज्यीकरण की धारा, सामन्ती भूमि व्यवस्था के टिके रहने की क्षमता, पूँजीपतियों से कृषि विनियोग के क्षेत्र की दूरी, कृषि-व्यवस्था के ऊपर उद्योगीकरण के अभाव का प्रभाव इत्यादि अनेक कारणों से कृषि-उत्पादन की वृद्धि, अथवा भूमिहीन, अथवा कृषि-मज़दूर की वृद्धि जैसी प्रवृत्तियों के होते हुए भी कृषि के लिए आधुनिक पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था में परिणत होना सम्भव नहीं हुआ।"** *(वही, पृ 73-74)*

इस तरह के उद्धरणों का यहाँ ढेर लगाया जा सकता है, लेकिन फिलहाल हमारा यह सिद्ध करने का मकसद पूरा हो गया है, कि **औपनिवेशिक दौर में भारत में कृषि में सामन्ती उत्पादन सम्बन्ध ही प्रमुख उत्पादन सम्बन्ध थे।** अब सवाल यह उठता है कि श्यामसुन्दर फरवरी 1917 की क्रान्ति के बाद के रूस (जहाँ पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध पहले ही विकसित हो चुके थे और स्वाभाविक वर्ग संघर्ष और क्रान्ति की प्रक्रिया में बुर्जुआ वर्ग सत्ता में आया था) की तुलना अगस्त, 1947 के भारत से कैसे करते हैं (जहाँ न तो पूँजीवादी सम्बन्ध प्रमुख उत्पादन सम्बन्ध बने थे और न ही बुर्जुआ वर्ग किसी क्रान्ति और वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया के जरिये सत्ता में आया था, बल्कि सत्ता-हस्तान्तरण की, हम एक और बार कहेंगे, अस्वाभाविक और अनैसर्गिक प्रक्रिया के जरिये सत्ता में आया था)। कोई भी बुनियादी तर्कबुद्धि रखने वाला व्यक्ति इस बात को समझ सकता है कि यह तुलना असम्भव है। राजनीति में अंकगणित की तर्क पद्धति कारगर नहीं होती, जो कहती है कि चूँकि गधे की चार

टाँग है और चूँकि कुर्सी की चार टाँग है इसलिए गधा=कुर्सी! लेकिन लगता है कि श्यामसुन्दर पाँचवी कक्षा के अंकगणित के सबक के धरातल के ज्ञान और तर्कपद्धति के आगे अपने मस्तिष्क को बढ़ा ही नहीं पाये हैं!

मूर्खता के सभी गहनों में सबसे चमकदार गहना

श्यामसुन्दर की मूर्खता का एक और नमूना। एक जगह यह महोदय अर्ज़ करते हैं: "कितना विचित्र विरोधाभास है कि अक्तूबर क्रान्ति का रणनीतिक नारा तो था 'गरीब किसानों के साथ पूँजीपति वर्ग, कुलकों और धनी किसानों खिलाफ़' लेकिन अक्तूबर क्रान्ति जब सम्पन्न हो रही थी तो उसमें सहयोग था समस्त किसान समुदाय का। क्योंकि किसान जनता में वर्ग भेद अथवा विभेदीकरण हुआ ही नहीं था। जिसका मूल कारण था कि रूस में राजतन्त्र विरोधी, सामंतवाद विरोधी जनवादी क्रान्ति के कार्य ज्यों के त्यों अधूरे पड़े हुए थे।" यह अब तक पेश किये गये मूर्खता के गहनों में सबसे चमकदार है, एकदम 24 कैरेट का! जहाँ तक इस बात का सवाल है कि अक्तूबर क्रान्ति में समूचे किसान वर्ग के साथ देने का सवाल है, तो हम पूछेंगे कि कज़ाखस्तान और साईबेरिया में देनीकिन और कोल्चाक की फौजों का साथ कौन दे रहा था? शायद श्यामसुन्दर ने रूसी क्रान्ति के त्रात्स्की द्वारा लिखे गये इतिहास के अलावा कोई पुस्तक नहीं पढ़ी है...अरे नहीं, हमारे ख़्याल से वह भी नहीं पढ़ी है! धनी किसान क्रान्ति के सबसे ढुलमुल मित्र या शत्रु की भूमिका में ही बना रहा। और यह स्थिति 1931 में सामूहिकीकरण शुरू होने के बाद तक जारी रही। यह तो पार्टी की नीति थी कि उसने भूमि कार्यक्रम इस प्रकार का तैयार किया था जिसमें समूचे किसान वर्ग के वर्ग हितों का प्रतिनिधित्व था।

दूसरी बात, श्यामसुन्दर अलग-अलग वर्गों द्वारा अलग-अलग राजनीतिक संगठन बनाये जाने और वर्गों के आर्थिक विभेदीकरण के बीच के अन्तर का अर्थ भी नहीं समझते हैं। यहाँ पर भी उन्होंने 'गधा=कुर्सी' वाली तर्कपद्धति का प्रदर्शन किया है। अगर किसानों में वर्ग विभेदीकरण ही नहीं हुआ था तो लेनिन किन ग़रीब किसानों से अलग संगठन बनाने की बात कर रहे थे? इसके बारे में श्यामसुन्दर ने ही ऊपर लिखा है: "सन् 1903 में ही लेनिन द्वारा **गाँव के गरीबों से** पुस्तक की रचना की गई थी जिसमें बार-बार ग़रीब किसानों को यह समझाया गया था कि वे धनी किसानों से अलग अपने संगठन बनायें। **अप्रैल थीसिस** में भी ग़रीब किसानों की अलग से सोवियतों के गठन का निर्णय लिया गया था"। यानी कि ग़रीब और धनी किसान अलग-अलग विभेदीकृत वर्ग के रूप में मौजूद थे, वरना लेनिन किससे यह अपील कर रहे थे? स्पष्ट है कि ग़रीब और धनी किसान अलग-अलग विभेदीकृत वर्गों के तौर पर मौजूद थे लेकिन ग़रीब किसानों की राजनीतिक चेतना का यह स्तर नहीं था कि वे अपने अलग संगठन बनायें। इसका कौन बेवकूफ यह अर्थ निकालेगा कि किसान आबादी का विभेदीकरण ही नहीं हुआ था? अरे नहीं! एक तो ऐसा शख़्स है! मज़ेदार बात यह है कि आगे लेनिन को श्यामसुन्दर स्वयं उद्धृत करते हैं जहाँ लेनिन ने कहा कि किसान आबादी में अभी विभेदीकरण **परिपक्व नहीं हुआ** था। और आगे श्यामसुन्दर लिखते हैं : "ऊपर दिये गये लेनिन के इन उद्धरणों से कोई भी साधारण बुद्धि वाला व्यक्ति आराम से समझ सकता है कि रूस में 25 अक्तूबर 1917 को होने वाली समाजवादी क्रान्ति से पूर्व किसान जनता में विभेदीकरण **नहीं हुआ था।** हम मानकर चलते हैं कि सभी पाठक साधारण बुद्धि रखते होंगे। अब यह नटगीरी देखिये! लेनिन को पहले खुद ही उद्धृत किया गया कि विभेदीकरण अभी परिपक्त नहीं हुआ है, जिसका स्पष्ट अर्थ है कि विभेदीकृत वर्गों की राजनीतिक गोलबन्दियों ने मूर्त रूप ग्रहण नहीं किया है, और आगे श्यामसुन्दर अपने ही उद्धरण के साथ इस कदर बदतमीज़ी करते हैं कि कोई भी साधारण बुद्धि वाला व्यक्ति शर्मा जाये। इसके बाद, फिर श्यामसुन्दर वैसा ही सवाल पूछते हैं कि बताओ 'आदमी की चार टाँगें क्यों होती हैं?' जिसके जवाब में यही कहा जा सकता है, 'क्योंकि मेरी तीन आँखें हैं!' वह पूछते हैं कि अगर रूस में अविभेदीकृत वर्ग समाजवादी क्रान्ति का समर्थन कर सकता था, तो भारत में क्यों नहीं कर सकता??!!

अब एक सवाल पर ग़ौर कीजिये–श्यामसुन्दर मानते हैं कि आज भारत में कृषि में पूँजीवादी विकास हो चुका है; भारत में किसान आबादी का विभेदीकरण भी हो चुका है और यह सन्देह से परे है, ऐसा मेरे विचार में श्यामसुन्दर भी मानते होंगे, वरना उन्हें मानना पड़ेगा कि आज भी भारत में समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल नहीं है। लेकिन भारत में हम केवल धनी किसानों के राजनीतिक संगठन देख सकते हैं, जैसे कि शेतकरी किसान संगठन, भारतीय किसान यूनियन, आदि। लेकिन ग़रीब किसानों का कोई संगठन या निम्न मंझोले किसानों का कोई अलग संगठन नहीं है और वे इन कुलकों-फार्मरों के संगठनों के ही पिछलग्गू बने हुए हैं। क्या इसका यह अर्थ है कि भारत में किसान आबादी का विभेदीकरण ही नहीं हुआ और यहाँ पर जनवादी क्रान्ति के कार्यभार "ज्यों के त्यों" अधूरे पड़े हुए हैं, जैसा कि श्यामसुन्दर अपनी विचित्र तर्क(मंत्र?)विद्या से नतीजा निकालते हैं? **यहाँ एक बार फिर देखिये कि श्यामसुन्दर मार्क्सवाद के एक बुनियादी सिद्धान्त को नहीं समझ पाये हैं। कोई वर्ग पैदा हो जाये और वह अपने राजनीतिक हितों को लेकर सचेत हो जाये, ये दो भिन्न चीज़ें हैं, जिन्हें मार्क्सवादी शब्दावली में 'वर्ग अपने आप में' और 'वर्ग अपने लिए' कहा गया है। ग़रीब किसानों के अलग संगठन नहीं बनाने के पीछे एक कारण यह है कि वह 'वर्ग अपने आप में' के तौर पर तो अस्तित्व में आ चुके थे, लेकिन अभी वे 'वर्ग अपने लिये' में तब्दील नहीं हुए थे।** दूसरा कारण यह है, कि ग़रीब किसानों या अर्द्ध-सर्वहारा आबादी आम तौर पर अन्ततः सर्वहारा संगठन से ही जुड़ती है और जब तक उसके समक्ष एक व्यावहारिक सांगठनिक विकल्प नहीं होता, तब तक वह स्वयं पहल नहीं लेती और धनी किसानों के संगठनों के ही पिछलग्गू के रूप में चलती रहती है, इस उम्मीद में कि किसी सुधार से उसका भी शायद कुछ भला हो जाये। लेकिन श्यामसुन्दर शायद **रेनी देकार्त** के इस विचार में यकीन रखते हैं कि 'मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ' या कहें कि 'यदि मैं न सोचूँ तो मैं नहीं हूँ।' क्योंकि उन्होंने रूसी ग़रीब किसानों पर यही फार्मूला लगा डाला है। जैसा कि हम पहले ही बता आये हैं, श्यामसुन्दर को तो अब यह सलाह भी नहीं दी जा सकती कि बुनियादी मार्क्सवादी दर्शन और अर्थशास्त्र का अध्ययन करें, क्योंकि अध्ययन करने पर भी उनके कुछ पल्ले नहीं पड़ता।

रणनीति का प्रश्न और श्यामसुन्दर के चमत्कार

अब हम क्या गिनायें कि श्यामसुन्दर ने मार्क्सवादी तर्कपद्धति में क्या-क्या ग़ज़ब चमत्कार किये हैं! लीजिये एक और पर विचार कीजिये! वह हम पर आरोप लगा रहे हैं कि हम क्रान्ति के रणनीतिक नारे को सामूहिकीकरण से उलझा रहे हैं। आगे वह अपने पावन विचारों की वर्षा जारी रखते हुए कहते हैं कि हमें इतना भी नहीं मालूम कि क्रान्ति का रणनीतिक नारा क्रान्ति के बाद के कृषि के सामूहिकीकरण का पर्यायवाची नहीं है! इसके बाद भी वह हमारे ज्ञान-चक्षुओं को खोलने पर बेतहाशा आमादा हैं! आगे वह हमें सिखाते हैं कि सामूहिकीकरण का अर्थ यह नहीं होता कि भूमि पर किसानों के मालिकाने और कब्ज़े को समाप्त कर दिया जाये! अब एक बार यहाँ रुक कर इतने अनोखे विचारों की थोड़ी समीक्षा कर ली जाये, वरना श्यामसुन्दर तो पाठकों को बौद्धिक बदहज़मी का ही शिकार बना देंगे! किसी ने कभी भी यह नहीं कहा था कि कृषि का सामूहिकीकरण और क्रान्ति का रणनीतिक नारा एक ही है। सवाल यह है कि क्रान्ति के रणनीतिक नारे का अर्थ तय करने के मायने क्या हैं। रणनीतिक नारे को तय करने का बुनियादी अर्थ है मित्र व शत्रु वर्गों की पहचान करना, मित्र वर्गों के बीच शत्रु वर्गों की राज्यसत्ता के विरुद्ध मोर्चा बनाना, और उसके विरुद्ध वर्ग संघर्ष को तीव्र से तीव्र बनाते हुए क्रान्ति की मंज़िल तक पहुँचाना। वास्तव में, उन्होंने स्तालिन का जो उद्धरण 'रणनीति' का अर्थ समझाने के लिए आगे दिया है, उससे यही सिद्ध होता है, लेकिन श्यामसुन्दर एक बार फिर किसी भी बात का मनमाना अर्थ निकालने की अपनी विचित्र आदत से बाज़ नहीं आते।

श्यामसुन्दर जैसा कोई स्वनामधन्य "दार्शनिक" ही इसका यह अर्थ निकाल सकता है कि एक बार रणनीतिक नारा देने के बाद कभी भी मनमुआफिक तरीके से क्रान्ति की जा सकती है! रणनीतिक नारे का अर्थ है वर्गों का क्रान्तिकारी मोर्चा खड़ा करना, जो किसी विशेष परिस्थिति में, जब क्रान्ति की परिस्थितियाँ तैयार न हो, तो क्रान्तिकारी जनान्दोलन को संगठित करने का नारा ही दिया जा सकता है; लेनिन ने कहा है कि किसी देश में क्रान्ति की परिस्थितियाँ तैयार हो चुकी हैं या नहीं यह केवल इस बात पर निर्भर नहीं करता कि क्रान्तिकारी वर्गों का मोर्चा क्रान्ति करने को तैयार हो गया है और हिरावल पार्टी उसे नेतृत्व देने के लिए तैयार है, बल्कि इस बात पर भी निर्भर करता है कि शासक वर्ग अब अपने शासन को जारी रख पाने में अक्षम हो चुके हैं। लेकिन श्यामसुन्दर क्रान्ति को वस्तुगत परिस्थितियों की नहीं बल्कि दिमाग़ की पैदावार समझते हैं! सामूहिकीकरण के बारे में भी श्यामसुन्दर का विचार ग़लत है। सामूहिकीकरण का निश्चित तौर पर यही अर्थ है कि अलग-अलग किसानों का ज़मीन पर स्वामित्व या कब्ज़ा नहीं रहेगा, बल्कि किसानों के समूह (कलेक्टिव) का ज़मीन पर सामूहिक मालिकाना होगा। यह समाजवादी सम्पत्ति का एक रूप है न कि निजी सम्पत्ति का।

आगे एक जगह श्यामसुन्दर यह दावा करते हैं कि हमारा यह कहना ग़लत है कि विऔपनिवेशीकरण के बाद कोमिण्टर्न ने कम्युनिस्ट पार्टियों को यही दिशा-निर्देश दिया था कि वह जनवादी कार्यभारों को पूरा करने के लिए नवसत्तासीन बुर्जुआ वर्ग पर क्रान्तिकारी जनदबाव निर्मित करें। वह कहते हैं, "साथियो, कोमिण्टर्न का यह निर्देश किसी भी ऐसे देश में जहाँ विऔपनिवेशीकरण के रूप में *(??)* बुर्जुआ सत्ता स्थापित हुई हो, क्रान्ति के रणनीतिक नारे के तौर पर नहीं दिया गया।" पहली बात, तो यह कि "किसी भी ऐसे देश" की बात बेकार है जहाँ विऔपनिवेशीकरण के बाद बुर्जुआ सत्ताएँ आई थीं, क्योंकि एक भी ऐसा देश नहीं था जहाँ विऔपनिवेशीकरण के बाद सामन्ती सत्ताएँ आई हों! दुनिया के हरेक उत्तर-औपनिवेशिक देश में विऔपनिवेशीकरण के बाद बुर्जुआ सत्ताएँ ही आई! दूसरी बात, शायद श्यामसुन्दर इण्डोनेशिया में सुकर्णो के दौर से वाकिफ़ नहीं हैं। सुकर्णो के दौर में चीनी गणराज्य और 1953 तक रूसी गणराज्य दोनों के ही काफ़ी अच्छे रिश्ते थे, और उस समय इण्डोनेशियाई कम्युनिस्ट पार्टी को सुकर्णो ने देश में अपने राजनीतिक कार्य को खुले तौर पर करने की पूरी आज़ादी दी थी। सुकर्णो ने इण्डोनेशिया की आज़ादी के बाद लगातार साम्राज्यवाद-विरोधी अवस्थिति अपनायी और गुट-निरपेक्ष आन्दोलन में शामिल देशों में वे उन देशों के साथ खड़े थे जो समाजवाद के साथ ज़्यादा हमदर्दी रखते थे। यह दौर था जब इण्डोनेशिया की कम्युनिस्ट पार्टी ने यही नीति अपनायी थी कि जनवादी कार्यभारों को पूरा करने के लिए नवसत्तासीन बुर्जुआ वर्ग पर क्रान्तिकारी जनदबाव बनाये रखा जाये; ज्ञात हो कि इण्डोनेशिया की कम्युनिस्ट पार्टी चीन की पार्टी के बाद एशिया की सबसे बड़ी और शक्तिशाली पार्टी थी। यह बात अलग है कि सुकर्णो के उदार बुर्जुआ राज्य में इस पार्टी ने अपने आपको पूरी तरह खुला करने की भूल कर दी और जब प्रतिक्रियावादी सुहार्तो द्वारा सुकर्णो को अपदस्थ कर दिया गया तो दुनिया में कम्युनिस्टों का अब तक का सबसे बड़ा कत्ले-आम किया गया। लेकिन यह एक अलग चर्चा का विषय है।

इसी से जुड़ी हुई बात जनता के जनवाद के सिद्धान्त की है। जब द्वितीय विश्वयुद्ध ख़त्म हुआ तो सोवियत संघ ने नात्सी और फासीवादी नियन्त्रण से मुक्त हुए सभी पूर्वी यूरोपीय देशों की कम्युनिस्ट पार्टी को क्या कहा था? सोवियत संघ ने जहाँ-जहाँ इन देशों को लाल सेना के अभियान के जरिये मुक्त किया वहाँ की कम्युनिस्ट पार्टी को तत्काल समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने का सुझाव नहीं दिया गया, बल्कि जनता का जनवाद (पीपुल्स डेमोक्रेसी) स्थापित करने का सुझाव दिया। इसका कारण साफ था। स्तालिन का मानना था कि इन देशों में लाल सेना के अभियान के चलते नात्सी और फासीवादी कब्ज़े से मुक्ति मिली। यहाँ का आन्तरिक वर्ग संघर्ष अभी विकास की इस मंज़िल पर नहीं था कि सीधे इन देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों के हाथ में सत्ता सौंपकर समाजवाद और सर्वहारा अधिनायकत्व की स्थापना कर दी जाये। इसलिए स्तालिन ने लाल सेना द्वारा मुक्ति के बाद इन सभी देशों में सत्ता कम्युनिस्ट पार्टियों और राष्ट्रीय बुर्जुआ पार्टी के मोर्चे को सौंपी और जनता का जनवाद स्थापित करने की सलाह दी। अगर उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के द्वन्द्व और वर्गों के बीच संघर्ष के मुताबिक

समाजवादी व्यवस्था की स्थिति न आयी हो, तो समाजवाद का नारा दे देने से कुछ नहीं होता। स्तालिन इस बात को भली-भाँति समझते थे। 1943 में कोमिण्टर्न भंग हुआ और सितम्बर 1947 में उसकी जगह कोमिन्फॉर्म की स्थापना हुई। शायद श्यामसुन्दर को यह पता नहीं कि युगोस्लाविया की कम्युनिस्ट पार्टी और उसके नेता टीटो को कोमिन्फॉर्म से क्यों निकाला गया था। उसके निकाले जाने के कारणों में से एक कारण यह था कि उसने स्तालिन की नवस्वाधीन देशों में तत्काल समाजवाद का नारा न देकर जनता के जनवाद का नारा देने की कार्यदिशा का विरोध किया था, हालाँकि अन्त में उसने युगोस्लाविया में समाजवाद के जिस संस्करण को स्थापित किया वह चीन के "बाज़ार समाजवाद" से काफ़ी मिलता-जुलता था। निजी सम्पत्ति की आज़ादी कायम रखी गयी, बाज़ार की शक्तियों को खुला हाथ दिया गया और उसके बावजूद कहा गया कि यह "समाजवाद" है–यह थी टीटो की राजनीति! वास्तव में, टीटो सीधे समाजवाद व्यवस्था लागू कर ही नहीं सकता था। क्योंकि नैसर्गिक तौर पर वर्ग संघर्ष उस मंज़िल पर नहीं पहुँचा था। इसलिए स्तालिन ने कहा कि तात्कालिक तौर पर यहाँ जनता का जनवाद स्थापित किया जाये और उसके बाद ये देश अपने-अपने विशिष्ट पथों से समाजवाद की यात्रा तय करें। लेकिन त्रात्स्कीपंथियों ने स्तालिन की इस कार्यदिशा का विरोध किया था और कहा था कि सोवियत संघ को नवस्वाधीन पूर्वी यूरोपीय देशों में सीधे समाजवाद का नारा देना चाहिए था और सत्ताएँ सिर्फ़ कम्युनिस्ट पार्टियों के हाथ में सौंपनी चाहिए थी। यही तो त्रात्स्की के "क्रान्ति के निर्यात" का सिद्धान्त था। तब त्रात्स्की स्तालिन की सही कार्यदिशा का विरोध कर रहे हैं, और आज प्रच्छन्न त्रात्स्कीपंथी श्यामसुन्दर इस सही कार्यदिशा का विरोध कर रहे हैं! मज़ेदार बात देखिये! प्रच्छन्न त्रात्स्कीपंथी श्यामसुन्दर के विचारधारात्मक पूर्वज शिबदास घोष ने भी अपने लेख 'सेल्फ क्रिटिसिज़्म ऑफ कम्युनिस्ट कैम्प' में हूबहू यही बात कहते हुए टीटो को कोमिन्फॉर्म में से निकाले जाने की आलोचना की है! जो साथी यह लेख देखना चाहते हैं, उसका लिंक यह है – (http://www.marxists.org/archive/shibdas-ghosh/1948/09/15.htm)। **श्यामसुन्दर की पूरी मेथडॉलजी और अप्रोच आज भी त्रात्स्कीपंथी है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि त्रात्स्कीपंथी धारा से औपचारिक तौर पर अलग होने के बावजूद एस.यू.सी.आई. की पूरी मेथडॉलजी और अप्रोच त्रात्स्कीपंथी था।**

कुछ सवालों का बार-बार जवाब देने की ज़रूरत नहीं है, जैसे कि अपने पेपर में श्यामसुन्दर बीच-बीच में यह बात बार-बार दुहराते रहते हैं कि रूस में राज्यसत्ता पर बुर्जुआजी के काबिज़ होने के तुरन्त बाद ही लेनिन ने समाजवादी क्रान्ति का नारा दे दिया था, जबकि कृषि में पूँजीवादी सम्बन्ध स्थापित नहीं हुए थे! हम ऊपर लेनिन के उद्धरणों से दिखा आये हैं कि श्यामसुन्दर की ये सभी मान्यताएँ ही ग़लत और मूर्खतापूर्ण हैं। जैसा कि हमने ऊपर लेनिन को उद्धृत किया था, समाजवादी क्रान्ति का नारा इसलिए नहीं दिया गया कि गुचकोव-मिल्युकोव के नेतृत्व में बुर्जुआ वर्ग के हाथ में सत्ता आ गयी, बल्कि इसलिए दिया गया था क्योंकि फरवरी में सत्ता हासिल न कर पाने के बावजूद एक दोहरी राजसत्ता पैदा हो चुकी थी जो कि मज़दूरों-किसानों की जनवादी तानाशाही की नुमाइन्दगी कर रही थी, और चूँकि मज़दूरों-किसानों का जनवादी अधिनायकत्व स्थापित हो चुका था, इसलिए अगले चरण का नारा समाजवादी क्रान्ति ही हो सकता था। अत: समाजवादी क्रान्ति का नारा मुख्य तौर पर सिर्फ बुर्जुआजी के सत्ता में आने से नहीं बल्कि मज़दूरों-किसानों की समानान्तर दोहरी सत्ता के अस्तित्व में आने से निर्धारित हुआ था। दूसरी बात, रूस में कृषि में पूँजीवाद का विकास काफ़ी पहले हो चुका था, यह भी हम लेनिन के उद्धरणों से दिखा आये हैं। तीसरी बात, रूस में राज्यसत्ता के पूरे तन्त्र पर पूँजीपति लम्बे समय से काबिज़ हो चुका था, और केवल राजतन्त्र का बचा रहना इतिहास का एक 'बैकलॉग' था जिसे विशेष परिस्थितियों में (जिसका ज़िक्र लेनिन ने अपने उद्धरण में दिया भी है) मात्र आठ हफ्तों में पूरा कर दिया गया। अगर कृषि में पूँजीवाद का विकास और राज्यसत्ता पर बुर्जुआजी का वर्चस्व पहले से स्थापित न होता, तो फरवरी से अक्टूबर तक में क्या परिवर्तन हो गया? क्या आठ-दस महीने में पूँजीवादी सम्बन्ध स्थापित हो गये? ऐसा चमत्कार तो श्यामसुन्दर जैसे परमहंस ही कर सकते हैं! लेकिन लेनिन एक यथार्थवादी कम्युनिस्ट थे और इस बारे में बिल्कुल साफ़ थे। उन्होंने स्पष्टत: पूँजीवादी खेती के मुख्य रुझान होने और राज्यसत्ता पर पहले से ही बुर्जुआजी का वर्चस्व स्थापित होने की प्रक्रिया को दिखला दिया था। लेनिन के इन उद्धरणों को हम ऊपर दे चुके हैं।

भूदासत्व के उन्मूलन और सुधार की प्रक्रिया के बारे में श्यामसुन्दर की असुधारणीय कठदलीली

आगे श्यामसुन्दर बताते हैं कि 1861 में भूदासत्व के उन्मूलन के बावजूद भूदास पूरी तरह तत्काल मुक्त नहीं हुए थे। बिल्कुल सही! प्रशियाई पथ में ऐसा कभी हो भी नहीं सकता है। लेकिन यह स्थिति कब तक बनी रही इस बात को श्यामसुन्दर गोल कर गये हैं। 1861 में जो प्रक्रिया शुरू हुई वह वास्तव में 1881 में जाकर ख़त्म हुई। लेनिन ने इसके बारे में 'रूस में पूँजीवाद के विकास' में 'किसान आबादी का विभेदीकरण' नामक अध्याय में लिखा है, जिसे हम आगे उद्धृत करेंगे। दूसरी बात, लेनिन ने यह स्पष्ट किया कि भूदासत्व के 1861 में उन्मूलन के बाद, भूदासत्व की जगह कॉर्वी तन्त्र पैदा हुआ, जो कि भूदासों को आंशिक तौर पर मुक्त करता था। 1881 तक यह स्थिति बनी रही। इसका कारण यह था कि 1881 तक सामन्तों के लिए मुआवज़ा लेकर भूदासों को अनिवार्य रूप से बेदख़ल कर देना एक बाध्यताकारी नियम नहीं था। 1881 के बाद यह बेदख़ली बाध्यताकारी हो गयी, और भूदास कुछ समय के लिए 'अस्थायी रूप से सामन्त से बंधे किसान' बने रहे और उसके बाद मुक्त कर दिये गये। श्यामसुन्दर हमारे मुँह में जबरन यह बात ठूँस रहे हैं कि हमने यह कहा कि लेनिन ने जनवादी क्रान्ति का नारा स्तोलिपिन के सुधारों के बाद दिया हो! ऐसी कोई बात न तो हमारे पेपर में थी, और न ही हमने कलायत बहस के दौरान कही। अब श्यामसुन्दर अपनी बदहवासी में उन हदों से आगे जाने लगे हैं जिसे 'मानसिक सन्तुलन' कहा जाता है! श्यामसुन्दर यह मूर्खतापूर्ण दावा करते हैं कि 1906 में स्तॉलिपिन के सुधारों के पहले किसानों की गुलामी ज्यों-की-त्यों बरकरार थी! हम श्यामसुन्दर से सिर्फ़ इतना ही कहेंगे कि लेनिन की रचना 'रूस में पूँजीवाद का विकास' पढ़ें और मन ही मन कामना करते रहेंगे कि वह पढ़कर समझ भी लें, क्योंकि इस मामले में इन महोदय का रिकॉर्ड बहुत शर्मनाक रहा है। अब ज़रा 1899 में लेनिन द्वारा लिखी गयी इन पंक्तियों पर ध्यान दें:

"(1) जिस सामाजिक आर्थिक स्थिति में मौजूदा रूसी किसान अपने आपको पाते हैं, वह है माल उत्पादन। यहाँ तक कि मध्य कृषि पट्टी में भी (जो कि दक्षिण पूर्वी सीमावर्ती क्षेत्रों या औद्योगिक गुबेर्नियाओं की तुलना में सबसे पिछड़े हुए हैं), किसान पूरी तरह से बाज़ार के अधीन हो चुके हैं, जिस पर वह अपने निजी उपभोग और खेती दोनों के लिए निर्भर है, करों के भुगतान की तो हम बात भी नहीं करते।

"(2) किसानों की बीच मौजूद सामाजिक-आर्थिक संबंध (कृषि-सम्बन्धी और ग्राम-समुदाय में भी) हमें उन सभी अन्तरविरोधों की उपस्थिति को दिखला रहे हैं जो हरेक माल अर्थव्यवस्था और हर पूँजीवादी व्यवस्था में अन्तर्निहित होते हैं...

"(3) किसानों के बीच सभी आर्थिक अन्तरविरोधों का कुल योग वही है जिसे हम किसानों का विभेदीकरण कहते हैं। किसानों ने स्वयं ही बहुत सही तरीके से और आश्चर्यजनक रूप से इस प्रक्रिया को "विकिसानीकरण" का नाम दिया है। यह प्रक्रिया पुराने, पितृसत्तात्मक किसानी के ख़ात्मे और नये किस्म के ग्रामीण बाशिन्दों के सृजन को दिखला रही है।..." *(लेनिन, अध्याय-2, किसान आबादी का विभेदीकरण, रूस में पूँजीवाद का विकास)*

आगे लेनिन बताते हैं कि रूसी ग्रामीण क्षेत्र तीन वर्गों में विभाजित हो चुका है–ग्रामीण बुर्जुआ वर्ग, यानी कि धनी किसान व पूँजीवादी भूस्वामी, जो कि ग्रामीण क्षेत्र के असली स्वामी बन चुके हैं, दूसरा, मध्यम किसान आबादी जिसके बड़े

हिस्से की नियति अन्ततः व्यापक ग़रीब किसान आबादी में शामिल होना है और छोटे से हिस्से को सामाजिक पायदान पर ऊपर चढ़ना है, और तीसरा हिस्सा है सर्वहारा वर्ग और अर्द्धसर्वहारा वर्ग का, जो कि बहुसंख्या में है और जिसमें वे स्वतन्त्र किन्तु निर्भर ग़रीब किसान भी शामिल हैं, जो भूदासत्व के बाद मुक्त तो हुए किन्तु भूस्वामियों पर निर्भर बने रहे। इन्हें *एलॉटमेण्ट होल्डिंग* किसान कहा गया है। यहाँ यह भी ग़ौर करने वाली बात है कि जिन भूस्वामियों पर ये ग़रीब किसान निर्भर हैं, वे सामन्ती भूस्वामी नहीं हैं बल्कि पूँजीवादी भूस्वामी हैं। लेनिन ने यह भी बताया कि पूँजीवाद के तहत भी ग़रीब किसान की स्वतन्त्रता औपचारिक ज़्यादा होती है, और वास्तविक कम। लेनिन के एक अन्य उद्धरण पर ग़ौर करें:

"...हमारे साहित्य में सैद्धान्तिक स्थापना की अत्यधिक घिसी-पिटी समझदारी बहुत अधिक मौजूद है कि पूँजीवाद को मुक्त, भूमिहीन मज़दूर की ज़रूरत होती है। मुख्य प्रवृत्ति को दिखाने के तौर पर यह स्थापना पर्याप्त सही है, लेकिन कृषि में पूँजीवाद ख़ास तौर पर धीमी गति से और अत्यन्त विविध रूपों में घुसपैठ करता है। ग्रामीण मज़दूरों को ज़मीन का एलॉटमेण्ट अधिकांशतः ग्रामीण मालिक के हित में ही होता है और यही कारण है कि एलॉटमेण्ट जोत वाले ग्रामीण मज़दूरों की किस्म सभी पूँजीवादी देशों में पायी जाती है। अलग-अलग देशों में इस किस्म के अलग-अलग रूप हैं: अंग्रेज कॉटेजर ठीक वहीं नहीं है, जो फ्रांस या राइन प्रान्तों का छोटी जोत वाला किसान, और फिर वह भी ठीक वही नहीं है जो प्रशिया का क्नेख़्ट। इनमें से प्रत्येक एक विशिष्ट भूमि व्यवस्था, भूमि सम्बन्धों के एक विशिष्ट इतिहास के अवशेष-चिन्ह लिये हुए हैं–लेकिन यह अर्थशास्त्रियों द्वारा उन सभी को कृषि सर्वहारा की एक ही श्रेणी में वर्गीकृत करने से नहीं रोकता।" *(लेनिन, रूस में पूँजीवाद का विकास, पृ.181-82, प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, 1977, अंग्रेज़ी संस्करण)*

श्यामसुन्दर को शायद अब और प्रमाणों की ज़रूरत न हो लेकिन हम एक आख़िरी उद्धरण लेनिन की इसी पुस्तक से दे रहे हैं जिसमें वे बताते हैं कि 1899 आते-आते रूस में भूदासत्व की व्यवस्था पूरी तरह समाप्त हो चुकी थी। आइये देखें:

"...अन्त में, रूस में कृषि पूँजीवाद ने पहली बार श्रम-सेवा और किसानों की निजी निर्भरता की जड़ों को काट दिया है। श्रम-सेवा के इस तंत्र का रुसकाया प्राव्दा (रूसी कानून - लेनिन) के दिनों की खेती से आज के निजी भूस्वामियों द्वारा किसानी उपकरणों के साथ खेती तक में पूरा बोलबाला था; किसानों की दरिद्रता और असभ्यता, जो कि अगर सामन्ती नहीं तो अपने श्रम के "अर्द्ध-मुक्त" होने के कारण पतन के गर्त में चले गये थे, चारित्रिक तौर पर, इस तंत्र से अनिवार्य तौर पर जुड़े हुए थी; अगर किसान के नागरिक अधिकार दुर्बल न किये गये होते...तो श्रम-सेवा तंत्र असम्भव होता। <u>इसीलिए कृषि पूँजीवाद ने रूस में श्रम-सेवा को उजरती श्रम से स्थानान्तरित कर एक महान ऐतिहासिक कार्य किया है।</u>" *(लेनिन, अध्याय 4, रूस में पूँजीवाद का विकास)*

श्यामसुन्दर समझते हैं कि 1906 के स्तोलिपिन सुधारों के बाद रूस में भूदासों की मुक्ति हुई। इससे साफ़ ज़ाहिर होता है कि श्यामसुन्दर ने रूसी इतिहास का 'क ख ग' भी नहीं पढ़ा है। स्तोलिपिन सुधारों ने ग्राम समुदाय को भंग कर ग्राम समुदाय के किसानों को उसकी ज़मीन एलॉट कर दी थी, जिस ज़मीन को बेचने का अधिकार भी उन किसानों के पास था। भूदासों की मुक्ति से एक बड़ी आबादी खेतिहर और औद्योगिक सर्वहारा में पहले ही शामिल हो चुकी थी, विशेष तौर पर 1861 से। लेकिन छोटे किसानों की एक विचारणीय आबादी अभी भी ग्राम समुदाय के तहत थी, जिसकी स्थिति अर्द्धसर्वहारा की ही थी, लेकिन चूँकि वह अपनी जोत को बेच नहीं सकता था (क्योंकि वह ग्राम समुदाय की सम्पत्ति थी) इसलिए वह अर्द्धभुखमरी की अवस्था में रहते हुए भी ज़मीन को छोड़ नहीं पाता था। लेकिन ज़मीन के निजी सम्पत्ति बनने के साथ ही ग्राम समुदाय से भी किसानों की एक आबादी निकली जिसका कि विकिसानीकरण हो गया। यह भूदासों की मुक्ति नहीं थी,

बल्कि छोटे किसानों के सर्वहाराकरण के लिए उठाया गया कदम था, जो रूसी उद्योग के नये चरण में प्रवेश करने के साथ ज़रूरी था। लेकिन अब श्यामसुन्दर जैसों को क्या समझाया जाय?

हमें लगता है कि श्यामसुन्दर को शिक्षक बनने का बेहद शौक़ है। हर जगह वह कुछ शिक्षक की मुद्रा में रहते हैं। यहाँ तक कि अपने "संगठन" के कार्यक्रमों में भी वह अपनी भूमिका मज़दूर वर्ग के महान शिक्षक के समान रखते हैं, जो अन्त में सभी वक्ताओं की बातों का 'मुख्य वक्ता' के तौर पर आलोचनात्मक समाहार करता है! लेकिन अफ़सोस कि इतिहास में कई बार बौने उन जूतों में पाँव रखने की हिमाकत कर बैठते हैं, जिनमें वे बिस्तर बिछाकर सो सकते हैं!

दो प्रकार की भूमि क्रान्तियों की व्याख्या के बारे में श्यामसुन्दर की अनेक प्रकार की मूर्खताएँ

इसके बाद शिक्षक का लबादा ओढ़े लड़खड़ाते-ढिमलाते हुए श्यामसुन्दर दो प्रकार की भूमि क्रान्ति के बारे में हमारा जबरन ज्ञानवर्द्धन करने पर आमादा हो जाते हैं। ज़रा देखें कि उन्होंने अपने नये राजनीतिक शिक्षण अभियान का उपशीर्षक क्या दिया है: "भूमि क्रान्ति का प्रशियाई ढंग बनाम पूँजीवादी सुधारवादी ढंग"। शीर्षक में ही अध्यापक महोदय ने न सिर्फ़ अपना शिक्षक वाला लबादा गिरा दिया बल्कि बचे-खुचे वस्त्र भी ज़मीन पर गिरा दिये हैं। मार्क्स या लेनिन ने कहीं भी "भूमि क्रान्ति के पूँजीवादी सुधारवादी" ढंग की कोई बात नहीं की है। मार्क्स ने एक को "नीचे से पूँजीवाद या वास्तविक तौर पर क्रान्तिकारी रास्ता" और दूसरे को "ऊपर से पूँजीवाद या ग़ैर-क्रान्तिकारी रास्ता" कहा, हालाँकि उस समय उनका मुख्य ज़ोर उद्योग के क्षेत्र पर था। लेनिन ने पूँजीवादी भूमि सुधारों के दो रास्ते की बात की है: पहला, युंकर शैली का प्रशियाई पथ वाला क्रमिक भूमि सुधार और दूसरा, अमेरिकी शैली का क्रान्तिकारी (या रैडिकल) भूमि सुधार। "पूँजीवादी सुधारवादी" सुधार कौन-सा होता है, यह तो श्यामसुन्दर महोदय ही बता सकते हैं! आगे इस उपशीर्षक में श्यामसुन्दर ने जो भी बातें कहीं हैं, उनमें से अधिकांश का खण्डन हम ऊपर कर चुके हैं। इसमें एक जगह प्रशियाई पथ को श्यामसुन्दर ने 'सामन्ती सुधारवादी ढंग' की संज्ञा दी है। क्या श्यामसुन्दर महोदय बतायेंगे कि इस दिव्य ज्ञान की प्राप्ति उन्हें किसी बोधि-वृक्ष के नीचे प्राप्त हुई है? लेनिन ने खुद ही प्रशियाई पथ को पूँजीवादी भूमि सुधार का एक रूप कहा है, तो श्यामसुन्दर उसे सामन्ती किस प्राधिकार के साथ कह रहे हैं? इसी बेवकूफ़ी भरे सूत्रीकरण के आधार पर श्यामसुन्दर कहते हैं कि हमारा यह कहना कि 1947 के बाद सत्ता में विराजमान हुए बुर्जुआ वर्ग द्वारा किया जाने वाला भूमि सुधार प्रशियाई पथ से किया गया भूमि सुधार था, ग़लत है। क्योंकि ब्रह्मा जी ने श्यामसुन्दर के सपने में प्रकट होकर उन्हें बताया है कि प्रशियाई पथ से होने वाला भूमि सुधार सामन्ती भूमि सुधार होता है, और इसे सामन्त शासक वर्ग करता है, बुर्जुआ शासक वर्ग नहीं! हम फिर से कहेंगे कि श्यामसुन्दर को एक बार लेनिन की 'रूस में पूँजीवाद का विकास' पुस्तक का अध्ययन करना चाहिए, और साथ ही कामना करेंगे कि वह पढ़कर समझ भी जायें। लेनिन ने साफ़ बताया है कि प्रशियाई पथ के भूमि सुधार उभरते हुए बुर्जुआ वर्ग के दबाव में कोई ऐसा राजतन्त्र कर सकता है, जो कि सिर्फ़ सामन्ती भूस्वामियों का ही प्रतिनिधित्व न कर रहा हो बल्कि वह नयी बुर्जुआ शक्तियों को भी सत्ता में भागीदारी देने के लिए बाध्य हुआ हो। प्रशियाई पथ का भूमि सुधार रूस में प्रतिक्रियावादी और बुर्जुआ में रूपान्तरित हो रहे भूस्वामियों के गिरोह 'ब्लैक हण्ड्रेड' और अक्तूबरवादियों के समर्थन से हुआ था। लेनिन के इस कथन पर ध्यान दें:

"सामन्ती भूस्वामी अर्थव्यवस्था के धीरे-धीरे युंकर बुर्जुआ अर्थव्यवस्था के रूप में विकसित हो जाने, किसान समुदाय के भूमिहीन खेतिहर और 'क्नेख़्ट' के रूप में तब्दील हो जाने, जनता के रहन-सहन को बलपूर्वक कंगाली के

स्तर पर बनाये रखने और पूँजीवाद के अन्तर्गत अपरिहार्य रूप से पनपने वाले 'ग्रासबाउर्न' के, धनी बुर्जुआ किसानों के छोटे समूहों के उभरने के द्वारा भूदास प्रथा समाप्त की जा सकती है। यही वह रास्ता है जो 'ब्लैक हण्ड्रेड' भूस्वामियों और उनके मन्त्री स्तोलिपिन ने चुना। उन्होंने महसूस किया कि जब तक भूस्वामित्व के जंग खाये हुए मध्ययुगीन रूपों को बलपूर्वक नष्ट नहीं कर दिया जाता, तब तक रूस के विकास का रास्ता साफ़ नहीं किया जा सकता। और उन्होंने भूस्वामियों के हित में उन्हें नष्ट करने के लिए बेधड़क काम शुरू कर दिया है।...यदि उन्हें अपने वर्ग शासन को सुरक्षित रखना है तो इसके अतिरिक्त वे कुछ भी और नहीं कर सकते, क्योंकि उन्होंने खुद को पूँजीवादी विकास के अनुरूप ढालने में और इसके विरुद्ध संघर्ष न करने की आवश्यकता को महसूस कर लिया है।" *(लेनिन, सामाजिक-जनवाद का भूमि कार्यक्रम, संग्रहीत रचनाएँ, खण्ड-13, पृष्ठ 422-24, प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, 1962, अंग्रेज़ी संस्करण)*

एक और उद्धरण:

"पहले स्तोलिपिन कार्यक्रम को लें, जो दक्षिणपंथी भूस्वामियों और अक्तूबरवादियों द्वारा समर्थित है। यह खुले रूप से एक भूस्वामियों का कार्यक्रम है। लेकिन क्या यह कहा जा सकता है कि यह आर्थिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी है, यानी कि यह भूमि-सम्बन्धों में बुर्जुआ विकास को रोकने के लिए, पूँजीवाद के विकास को बाधित कर रहा है, या बाधित करना चाहता है? कतई नहीं। इसके विपरीत, स्तोलिपिन द्वारा अनुच्छेद 87 के अन्तर्गत प्रस्तुत प्रसिद्ध भूमि कानून की आत्मा पूरी तरह विशुद्ध बुर्जुआ है। इसमें कोई भी सन्देह नहीं हो सकता कि यह पूँजीवादी विकास की दिशा का अनुसरण करता है, उस विकास की मदद करता है और उसे आगे बढ़ाता है, किसानों के कंगाल होने, ग्राम कम्यूनों के टूटने और किसान पूँजीपति वर्ग के पैदा होने की प्रक्रिया को तेज़ करता है। निस्सन्देह, यह कानूनी वैज्ञानिक-आर्थिक दृष्टि से प्रगतिशील है।" *(वही, पृ. 243-44)*

स्पष्ट है कि प्रशियाई पथ से होने वाले भूमि सुधारों का चरित्र भी पूँजीवादी होता है, किन्तु वह रैडिकल-क्रान्तिकारी पूँजीवादी नहीं होता है। लेकिन श्यामसुन्दर शायद पूँजीपति वर्ग को चिरन्तन क्रान्तिकारी मानते हैं, इसलिए यदि वह अपना कोई कार्यभार प्रतिक्रियावादी तरीके से पूरा करता है, तो श्यामसुन्दर उसे सामन्ती बता देते हैं! लेकिन लेनिन का ऐसा कोई मुग़ालता नहीं था। लेनिन ने स्पष्ट रूप से दिखाया कि रूस में राजतन्त्र के मौजूद रहते हुए पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध प्रभावी बन चुके थे, पूँजीपति वर्ग सबसे शक्तिशाली शासक वर्ग के रूप में उभर चुका था और उसके दबाव में ही (ख़ास तौर पर, उद्योगपतियों और पूँजीवादी बनने की चाहत रखने वाले भूस्वामियों के दबाव में) ज़ारशाही ने 50 वर्ष के लम्बे कालखण्ड में क्रमिक भूमि सुधारों की प्रक्रिया चलायी। वास्तव में यह वही प्रक्रिया थी जो प्रबुद्ध निरंकुश बिस्मार्क ने चलायी थी। और इसीलिए इस पथ को प्रशियाई पथ कहा गया। यह सामन्तों द्वारा किया जाने वाला भूमि सुधार नहीं है। यह कैसी मूर्खता की बात श्यामसुन्दर कर रहे हैं? सामन्त स्वयं पूँजीवाद का विकास करने की नीति क्यों बनायेंगे? कोई राजतन्त्र यदि ऐसी नीति बना रहा है तो स्पष्ट है कि वह बुर्जुआ वर्ग के दबाव में ऐसा कर सकता है, या जैसा कि जर्मनी में हुआ, मुख्य तौर पर बुर्जुआ चरित्र रखने वाला राजतन्त्र यह कर सकता है। एंगेल्स ने दिखाया है कि ऐसा इतिहास में अक्सर होता है:

"परन्तु अपवादस्वरूप कुछ ऐसे काल भी आते हैं जब संघर्षरत वर्गों का शक्ति सन्तुलन इतना बराबर हो जाता है कि राज्यसत्ता एक दिखावटी पंच के रूप में कुछ समय के लिए, कुछ मात्रा में दोनों वर्गों से स्वतन्त्र हो जाती है। सत्रहवीं और अट्ठारवीं सदियों का निरंकुश राजतन्त्र ऐसा ही था, जो अभिजात वर्ग तथा पूँजीपति वर्ग के बीच सन्तुलन कायम रखता था। फ्रांस में पहले और उससे भी अधिक दूसरे साम्राज्य की बोनापार्तशाही भी ऐसी ही थी, जो सर्वहारा वर्ग को पूँजीपति वर्ग से और पूँजीपति वर्ग को सर्वहारा वर्ग से भिड़ाती रही थी। इस प्रकार का

सबसे नया उदाहरण, जिसमें शासक और शासित दोनों समान रूप से हास्यास्पद नज़र आते हैं, बिस्मार्क के राष्ट्र का नया जर्मन साम्राज्य है। यहाँ पूँजीपतियों और मज़दूरों के बीच सन्तुलन रखा जाता है और दोनों को समान रूप से धोखा देकर प्रशा के दीवालिया ज़मींदारों का उल्लू सीधा किया जाता है।" *(एंगेल्स, परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1974, पृ. 212)*

लेकिन श्यामसुन्दर इस बात को नहीं समझते। यहाँ पर भी राज्यसत्ता में कौन बैठा है, यह देखने के बाद श्यामसुन्दर आँख बन्द कर लेते हैं, और ऊल-जुलूल प्रस्थापनाएँ देते हुए सड़क पर भाग चलते हैं! ऊपर के उद्धरणों में लेनिन ने प्रशियाई पथ के भूमि सुधारों के वर्ग चरित्र को पूँजीवादी भूमि सुधार के तौर पर सटीक रूप में चिन्हित किया है। या तो यह श्यामसुन्दर की निकृष्ट कोटि की बेईमानी है या अव्वल दर्ज़े का घोंचूपन। हम मानकर चलते हैं कि वह बेईमान नहीं होंगे!

क्रान्ति के बुनियादी प्रश्न के सवाल पर श्यामसुन्दर द्वारा घिसे हुए गंजे तर्कों की नुमाइश

इसके बाद अपने पाँचवे उपशीर्षक 'क्रान्ति का एक बुनियादी प्रश्न' में श्यामसुन्दर ने फिर से अपने पहले से गंजे हो चुके मूर्खतापूर्ण तर्कों को घिसना जारी रखा है। इनमें से अधिकांश का उत्तर भी हम ऊपर दे आये हैं। यहाँ श्यामसुन्दर लिखते है, "कितनी सरल-सी बात है जो स्तालिन ने ऊपर लिखी है कि जो शासक वर्ग विद्यमान पुराने उत्पादन सम्बन्धों के समर्थक होते हैं और जो उन्हें ज्यों का त्यों बनाये रखना चाहते हैं उन सम्बन्धों के रक्षक शासक वर्ग को बलपूर्वक हटाने का नाम क्रान्ति है। क्रान्ति के द्वारा उत्पादन सम्बन्धों का मेल उत्पादक शक्तियों के स्तर के साथ कराया जाना ज़रूरी है। फिर भी यदि कोई कहे कि क्रान्ति राजसत्ता के चरित्र का उत्पादन-सम्बन्धों के चरित्र से मेल कराने को कहा जाता है तो फिर यह क्रान्ति की मार्क्सवादी परिभाषा के बारे में भ्रम फैलाने के अलावा और कुछ नहीं हो सकता।" यहाँ एक बार फिर पाठक समझ गये होंगे कि इस पेपर के शुरू में हमने यह क्यों कहा था कि श्यामसुन्दर अपनी अवस्थिति भी ठीक से नहीं समझते। आगे वह लेनिन के उद्धरण को सन्दर्भों से काटकर पेश करते हैं और कहते हैं कि क्रान्ति का अर्थ है शासक वर्ग का तख़्ता उलटा जाना। पहली बात, श्यामसुन्दर यह नहीं समझते कि राजसत्ता स्वयं एक उत्पादन सम्बन्ध है। यह किसी भी देश में प्रभावी उत्पादन सम्बन्धों की चरम अभिव्यक्ति होती है। इस पूरे मुद्दे का जवाब हम कलायत बहस में दे चुके हैं और श्यामसुन्दर में यदि रत्ती-भर भी साहस है तो उन्हें कलायत की बहस के वीडियो रिकॉर्डिंग का खुला वितरण कर देना चाहिए। लेकिन फिर भी हम एक आख़िरी बार फिर से अपने तर्कों को स्पष्ट कर देते हैं, ताकि हरियाणा के ईमानदार साथी इस बारे में साफ़-नज़र हो सकें।

श्यामसुन्दर खुद मान रहे हैं कि क्रान्ति का काम है उन्नत उत्पादक शक्तियों के अनुसार उन्नत उत्पादन सम्बन्धों की स्थापना, और इसमें राजसत्ता का प्रश्न अहम सिर्फ़ और सिर्फ़ और सही-सटीक तौर पर इसीलिए बन जाता है क्योंकि वह पुराने उत्पादन सम्बन्धों को बलपूर्वक कायम रखती है और उसकी हिफ़ाज़त करती है। लेनिन ने कहा कि क्रान्ति का अर्थ है शासक वर्ग का तख़्ता उलटा जाना। श्यामसुन्दर को बताना चाहिए कि वह अगस्त, 1947 को क्या मानते हैं? क्या वह एक क्रान्ति थी? तो फिर उन्हें हर 15 अगस्त पर जनवादी क्रान्ति की सालगिरह मनाते हुए खुशी मनानी चाहिए! वास्तविकता यह है कि 1947 में एक अनैसर्गिक और अस्वाभाविक प्रक्रिया में सत्ता-हस्तान्तरण हुआ, जो कि समाज के आन्तरिक वर्ग संघर्ष और उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के अन्तरविरोध की नैसर्गिक और स्वाभाविक प्रक्रिया में नहीं हुआ था। ज़ाहिर है, यह कोई क्रान्ति नहीं थी! यह सत्ता-हस्तान्तरण के बाद एक क्रमिक संक्रमण की शुरुआत थी जो दशक भर में पूरा हुआ, जब

पूँजीवादी राज्य ने पिछड़े उत्पादन सम्बन्धों को राज्यसत्ता के अनुरूप बना लिया। यहाँ मामला यह नहीं था कि उत्पादक शक्तियाँ विकसित हो गयी हों, और उत्पादन सम्बन्धों को उनके अनुरूप स्थापित करने का काम करने के लिए पिछड़ी हुई राज्यसत्ता को क्रान्ति के ज़रिये उखाड़ कर फेंकना हो! यहाँ मामला यह था कि उत्पादन सम्बन्धों के धरातल पर औपनिवेशिक संरचना ने सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों को कायम रखा था (श्यामसुन्दर दावा करते हैं कि रूस में फरवरी, 1917 से पहले यही स्थिति थी, जिसे कि हम लेनिन के उद्धरणों के ज़रिये ग़लत सिद्ध कर चुके हैं; रूस में फरवरी क्रान्ति के पहले पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध प्रमुख उत्पादन सम्बन्ध बन चुके थे और राजसत्ता के प्रश्न को फरवरी क्रान्ति ने हल किया) और विशिष्ट परिस्थितियों में जनवादी क्रान्ति की स्थितियों के पैदा होने से पहले ही अंग्रेज़ सत्ता भारतीय बुर्जुआ वर्ग के हाथों में सौंपकर भाग खड़े हुए, जिसके कारणों की चर्चा भी हम ऊपर कर आये हैं; ऐसे में, यहाँ एक ऐसी राज्यसत्ता आयी जो कि देश के प्रभावी उत्पादन सम्बन्धों की तुलना में आगे बढ़ी हुई थी; ऐसे में, क्या मुख्य तौर पर सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों में बन्धी जनता के सामने समाजवाद का नारा दिया जा सकता था, जिसने कि आंशिक पूँजीवादी सुधार भी न देखें हों? श्यामसुन्दर त्रॉत्स्की का अनुसरण करते हुए जनता को सामन्ती चेतना से सीधे समाजवादी चेतना में ले जाना चाहते हैं। श्यामसुन्दर इस बात के जवाब में कहते हैं कि लेनिन ने भी एक दफ़ा राजसत्ता बुर्जुआजी के हाथ में आने के बाद यही किया था, लेकिन हम ऊपर लेनिन के उद्धरणों से दो बातें सिद्ध कर चुके हैं: 1) पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध फरवरी क्रान्ति के पहले ही प्रमुख प्रवृत्ति बन चुके थे; 2) लेनिन ने महज़ बुर्जुआ वर्ग के सत्ता में आ जाने के कारण समाजवादी क्रान्ति का नारा नहीं दिया था जैसा कि श्यामसुन्दर लेनिन के उद्धरण को आधा कोट करके साबित करना चाहते थे, ऊपर हमने इस उद्धरण को पूरा कोट किया है, जिसमें लेनिन ने बताया है कि दो विशिष्ट कारणों से कुछ पूँजीवादी जनवादी कार्यभारों के अधूरे रहने (जैसे कि 'रीडिस्ट्रिब्यूटिव' भूमि सुधार न होने, क्योंकि प्रशियाई युंकर शैली भूमि सुधार पहले ही हो चुके थे) के बाद भी तत्काल समाजवादी क्रान्ति का नारा दिया जा सकता था: 1) दोहरी सत्ता के रूप में एक समानान्तर मज़दूर-किसान सोवियत सत्ता का अस्तित्व में आना जो कि मज़दूरों-किसानों की जनवादी तानाशाही की नुमाइन्दगी करती थी; और 2) साम्राज्यवादी युद्ध होने और उसके क्रान्तिकारी गृहयुद्ध में तब्दील हो जाने की स्थितियाँ जिस पर रूसी कम्युनिस्ट पार्टी का कोई नियन्त्रण नहीं था। इन दो परिस्थितियों ने, लेनिन के शब्दों में मज़दूर वर्ग को बाध्य किया कि वह तत्काल सत्ता पर कब्ज़ा करे। इस बारे में हम लेनिन और साथ ही त्रॉत्स्की (जब वह सही रास्ते पर थे) के उद्धरण ऊपर दे आये हैं।

अब सवाल उठता है कि जब एक अनैसर्गिक और अस्वाभाविक सत्ता हस्तान्तरण द्वारा, न कि किसी जनवादी क्रान्ति द्वारा, राजसत्ता बुर्जुआ वर्ग के हाथ में आ जाये, और उत्पादन सम्बन्ध मुख्य और मूल तौर पर सामन्ती बने हुए हों, तो उस समय कम्युनिस्ट पार्टी का रणनीतिक नारा क्या होना चाहिए? इसके बारे में भी हम ऊपर लिख आये हैं और साथ ही हमने लेनिन के और साथ ही द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद नवस्वाधीन पूर्वी यूरोपीय देशों के बारे में स्तालिन और कोमिण्टर्न और फिर कोमिन्फॉर्म की लाइन के उद्धरण दे चुके हैं। दिलचस्पी रखने वाले पाठक पेपर का वह हिस्सा फिर से देख लें।

लेनिन इस बारे में बिल्कुल साफ़ थे। उन्होंने सितम्बर 1917 में 'मार्क्सवाद और विप्लव' लेख में बताया कि जब तक समाजवादी क्रान्ति की परिस्थितियाँ तैयार न हों तब तक पार्टी को क्रान्तिकारी जनसंघर्षों का दबाव बनाना चाहिए और यही सर्वहारा वर्ग की रणनीति होगी। लेनिन ने उदाहरण भी दिये जिन्हें हम ऊपर उद्धृत कर आये हैं, जिसमें लेनिन ने बताया कि किस तरह मज़दूरों और किसानों ने जनवादी क्रान्ति की उपलब्धियों की हिफ़ाज़त के लिए बुर्जुआ आरज़ी सरकार पर क्रान्तिकारी जनसंघर्षों का दबाव बनाया, और न तो पुलिस बल की पुनर्स्थापना होने दी, न ज़ार को वापस आने दिया और न ही अपने आपको निरस्त्रीकृत होने दिया। यहाँ लेनिन साफ़ तौर पर बता रहे हैं कि अभी समाजवादी आम बग़ावत की मंज़िल नहीं है और तब तक जनवादी क्रान्ति को मुकम्मिल बनाने के लिए सर्वहारा वर्ग और ग़रीब किसानों को क्रान्तिकारी जनदबाव निर्मित करना चाहिए। अपने 'मार्क्सवाद और विप्लव' नामक लेख में लेनिन स्पष्ट करते हैं:

"सफलता प्राप्त करने के लिए विप्लव को षड्यंत्र या किसी पार्टी पर भरोसा न करके आगे बढ़े हुए वर्ग पर भरोसा करना चाहिए। यह पहला सूत्र है। विप्लव को जनता के क्रान्तिकारी उभार पर भरोसा करना चाहिए। यह दूसरा सूत्र है। विप्लव को विकासमान क्रान्ति के इतिहास में मोड़ के बिन्दु–अर्थात् जब जनता की अग्रणी कतारों की कार्यवाही पराकाष्ठा पर हो, और जब शत्रु की कतारों में और क्रान्ति के दुर्बल, निरुत्साही और अनिश्चयी मित्रों की कतारों में ढुलमुलपन अपने चरम बिन्दु पर पहुँच चुका हो–पर भरोसा करना चाहिए।

"जिस समय यह शर्तें मौजूद हों, उस समय भी विप्लव के प्रति कला का व्यवहार न करना मार्क्सवाद और क्रान्ति के साथ विश्वासघात है।

"यह सिद्ध करने के लिए कि ठीक यही समय है जब पार्टी को स्वीकार करना चाहिए कि घटनाओं के पूरे क्रम ने वस्तुगत रूप से विप्लव को समय का तकाज़ा बना दिया है, और यह कि विप्लव एक कला है; सम्भवतः यह सबसे अच्छा होगा कि तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग किया जाय और तीन-चार जुलाई तथा सितम्बर के दिनों का सादृश्य दिखाया जाय।

"तीन-चार जुलाई को, बिना झूठ बोले, यह तर्क दिया जा सकता था कि सत्ता पर अधिकार करना सही होता, क्योंकि हमारे शत्रु हर हालत में हमारे ऊपर विप्लव करने का आरोप लगाते और बड़ी निष्ठुरता से हमारे साथ विद्रोहियों जैसा व्यवहार करते। फिर भी, इसी आधार पर उस समय सत्ता हथियाने का निर्णय लेना ग़लत होता, क्योंकि विप्लव की विजय के लिए वस्तुगत परिस्थितियाँ उस समय मौजूद नहीं थीं।" *(लेनिन, मार्क्सवाद और विप्लव, पृ.421-22, दो क्रान्तियों के बीच, लोकसाहित्य प्रकाशन, 1983)*

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि लेनिन ने फरवरी क्रान्ति के तुरन्त बाद ही सत्ता कब्ज़ा करने का नारा नहीं दिया था। उसके पहले वह मज़दूरों-किसानों की सोवियत को आरज़ी बुर्जुआ सरकार पर क्रान्तिकारी जनसंघर्षों का दबाव निर्मित करने का सुझाव दे रहे थे, और यही उस समय की रणनीति थी–बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति को अधिकतम सम्भव मुकम्मिल करने के लिए मज़दूरों-किसानों के जनान्दोलनों का क्रान्तिकारी दबाव! लेकिन श्यामसुन्दर ऐसी किसी रणनीति की कल्पना कर पाने में मानसिक रूप से अक्षम हैं। उन्हें इस मानसिक अल्पविकास की स्थिति में छोड़ देते हैं और आगे बढ़ते हैं। हम ऊपर लेनिन का वह उद्धरण दे चुके हैं जिसमें उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इस रणनीति का हवाला दिया है।

भारत में एक दूसरे रूप में और एक दूसरे ऐतिहासिक सन्दर्भ में यह रणनीति और ज़्यादा लागू होती थी, और कुछ महीनों नहीं बल्कि कुछ वर्षों तक लागू होती थी। 1947 से लेकर 1950 के दशक के उत्तरार्द्ध तक, यानी करीब एक दशक तक, कम्युनिस्ट आन्दोलन का मुख्य कार्यभार था कि वह मज़दूरों-किसानों के क्रान्तिकारी जनसंघर्षों का दबाव बनाकर नवसत्तासीन बुर्जुआ वर्ग को जनवादी कार्यभारों को अधिक से अधिक रैडिकल तरीके से पूरा करने के लिए बाध्य करे। अगर भारत का कम्युनिस्ट आन्दोलन यह कर पाने में सफल हुआ होता तो शायद भारत में भी इण्डोनेशिया जैसे भूमि-सुधार लागू हो पाते। लेकिन पहले तो कम्युनिस्ट आन्दोलन की विचारधारात्मक-राजनीतिक कमज़ोरी के कारण और फिर कम्युनिस्ट पार्टी के पथभ्रष्ट हो संशोधनवाद के गड्ढे में गिर जाने के चलते यह नहीं हो सका। नतीजतन, भारतीय बुर्जुआ वर्ग ने एक क्रमिक और खण्डित प्रक्रिया में कृषि में सम्बन्धों का पूँजीवादी रूपान्तरण किया। इस पूरे ऐतिहासिक क्रम, भारत जैसे उत्तर-औपनिवेशिक देशों में उत्तर-औपनिवेशिक बुर्जुआ सत्ताओं की विशिष्टता, सामाजिक संरचना की विशिष्टता को मौलिक तरीके से समझने के बजाय श्यामसुन्दर जैसे कठमुल्ला बलात् तुलनाएँ और सादृश्य-निरूपण करते रहते हैं, और वह भी मूर्खतापूर्ण तरीके से, जैसे कि "फरवरी, 1917 के बाद लेनिन ने समाजवादी क्रान्ति का नारा दे दिया था, इसलिए हम भी अगस्त 1947 के बाद

समाजवादी क्रान्ति का नारा देंगे।" न तो ऐसे मूर्ख फरवरी, 1917 में रूस में क्या हुआ था, यह समझते हैं और न ही वह यह समझते हैं कि अगस्त 1947 में भारत में क्या हुआ था!

आगे श्यामसुन्दर ने हम पर आरोप लगाया है कि हमने राज्य और क्रान्ति के लेनिन के सिद्धान्त और संशोधनवाद की उनकी आलोचना को गड्डमड्ड कर दिया है! इस मूर्खतापूर्ण आरोप का भी जवाब देना पड़ रहा है, यह एक त्रासदी है। संशोधनवाद की आलोचना की प्रक्रिया में ही लेनिन का राज्य और क्रान्ति का सिद्धान्त विकसित हुआ था। मार्क्स के एक उद्धरण को काऊत्स्की ने ग़लत तरीके से (बिल्कुल श्यामसुन्दर की तरह!) सन्दर्भ से काटकर उद्धृत कर यह सिद्ध करने की कोशिश की थी कि बिना बलपूर्वक बुर्जुआ राज्यसत्ता को चकनाचूर किये और उसके स्थान पर सर्वहारा वर्ग की सत्ता को स्थापित किये, शान्तिपूर्ण तरीके से, संसदीय रास्ते से भी क्रान्ति हो सकती है। लेनिन ने इसके जवाब में ही सबसे पहली बार यह कहा था कि क्रान्ति का प्रश्न राज्यसत्ता का प्रश्न है। इसके बाद लेनिन ने कभी नहीं सोचा होगा कि कुछ कुढ़मगज (जिनकी परम्परा की शुरुआत भारत में एस.यू.सी.आई. से होती है, और उसी के वंशज श्यामसुन्दर जैसे लोग हैं) कोई उनके इस कथन का ऐसा मतलब और व्याख्या करेगा जैसी कि श्यामसुन्दर करते हैं! लेकिन हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं कि लेनिन के सिद्धान्त को पूर्णता में समझे बग़ैर आप लेनिन के क्रान्ति के सिद्धान्त को नहीं समझ सकते हैं। न ही आप भारत की विशिष्ट स्थिति को ही समझकर उस पर लेनिन के सिद्धान्त को लागू कर सकते हैं, अगर आप यह न समझें कि अगस्त, 1947 में क्या हुआ था और उन विशेष परिस्थितियों में राज्य और क्रान्ति के लेनिनवादी सिद्धान्त को किस प्रकार लागू किया जाय। हालाँकि, लेनिन और स्तालिन ने पहले ही बताया था कि ऐसे में इस सिद्धान्त को कैसे लागू किया जाना चाहिए, जिन्हें हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं।

माओ के 'अन्तरविरोध के बारे में' लेख को समझने का श्यामसुन्दर का अनथक और असफल प्रयास

इसके बाद श्यामसुन्दर बताते हैं कि उन्होंने कैसे कलायत बहस के दौरान माओ त्से-तुंग के लेख 'अन्तरविरोध के बारे में' के हिस्सों के पाठ और उसकी व्याख्या से श्रोताओं को पागल और मन्त्रमुग्ध कर दिया था, और कैसे अभिनव अपने साथियों के साथ "दाँत निपोड़ते" देखे गये थे। इसके बाद श्यामसुन्दर अपनी पुरानी कूपमण्डूकतापूर्ण आत्मधर्माभिमानिता की शैली में लिखते हैं: "साथियो मुझे उस वक्त पूर्ण अहसास हो गया था कि अभिनव एक मार्क्सवादी रट्टू तोते के अलावा और कुछ नहीं हैं।" पहली बात तो यह कि लेनिन ने अपने एक लेख में एक लोकोक्ति को बिल्कुल सही उद्धृत किया है "सबसे अच्छी हँसी वह होती है, जो अन्त में हँसी जाती है।" जाहिर-सी बात है, कई घण्टों तक श्यामसुन्दर की हास्यास्पद बातों को सुनने के बाद लगातार हँसी रोक पाने का हमारा प्रयास विफल हो चुका था। क्योंकि, जैसा कि आइंस्टीन ने कहा था, "मानवीय मूर्खता" के अलावा हर चीज़ की एक हद होती है! दूसरी बात, श्यामसुन्दर को कलायत बहस के दौरान ही हमारे रट्टू तोते होने के बारे में पता चल गया था, तो वह बहस में चारों खाने चित क्यों हो गये थे? अगर उस बहस में श्यामसुन्दर के अनुसार यही बात साबित हो रही थी तो वह बहस का वीडियो हरियाणा के राजनीतिक कार्यकर्ता साथियों में बाँट क्यों नहीं देते? अगर श्यामसुन्दर उस बहस में इतनी ही वरिष्ठ स्थिति में पहुँच गये थे, तो उस बहस के चन्द दिनों बाद ही अपने कार्यकर्ताओं की बैठक बुलाने की ज़रूरत उन्हें क्यों पड़ी? हम बताते हैं!

श्यामसुन्दर अपनी अद्वितीय और अभूतपूर्व मूर्खता और कूपमण्डूकता के बावजूद इतना समझ गये थे कि कलायत बहस में उनकी बखिया उधेड़ दी गयी है। वह सोचकर कुछ और आये थे और हो कुछ और गया! इसके बाद, कोई भी

व्यक्ति श्यामसुन्दर की शकल देखकर बता सकता था कि वह सदमे की स्थिति में हैं। ख़ैर, चन्द दिनों में जब वह कुछ सम्भले तो उन्हें ख़याल आया कि अपने संगठन को बिखरने से बचाया जाय, अपने साथियों के बीच अपने सम्मान को पुनर्स्थापित किया जाय, और इसी मकसद से उन्होंने चन्द दिनों बाद ही कार्यकर्ता बैठक बुलायी। इसके बाद, वह दो महीने तक लेनिन, माओ आदि के कोटेशन छाँटने के लिए बिल में घुसे तो उसके बाद जो पेपर लेकर वह निकले हैं, उसमें उन्होंने अपनी ही मूर्खता के सभी पूर्ववर्ती कीर्तिमानों को ध्वस्त कर दिया है! लेकिन जहाँ तक कलायत बहस का सवाल है तो श्यामसुन्दर को तथ्यों से ऐसी ज़ोर-ज़बर्दस्ती नहीं करनी चाहिए। उन्हें निरुत्तर होकर और धराशायी होकर वहाँ से लौटना पड़ा था, और अब वह अपने नये पेपर में उस बहस को अपनी विजय के रूप में चित्रित कर रहे हैं! उन्हें अपने कार्यकर्ताओं का तो कम-से-कम ख़याल रखना चाहिए! उन्हें तो आज भी याद होगा कि कलायत बहस के दिन शाम होते-होते श्यामसुन्दर की क्या स्थिति हो गयी थी।

ख़ैर! यहाँ मूल मुद्दा श्यामसुन्दर के झूठ-फरेब नहीं हैं। हम श्यामसुन्दर द्वारा माओ को समझने के 'विचित्र किन्तु सत्य' उपक्रम पर आते हैं। यह साबित करने के लिए कि भारत में जिस अनैसर्गिक प्रक्रिया से बुर्जुआ राज्यसत्ता अस्तित्व में आयी (जिस प्रक्रिया का विवरण हम पहले दे चुके हैं) उसके बाद भी बस राज्यसत्ता का "चरित्र-निर्धारण" करके ही सारी रणनीति तैयार हो जाती है, श्यामसुन्दर ने माओ का एक उद्धरण दिया है, जिसके बाद वाले हिस्से को वह जानबूझकर गोल कर गये हैं, क्योंकि इससे उनकी मानसिक असन्तुलन की स्थिति की पोल खुल जाती है। वह पूरा उद्धरण हम यहाँ पेश कर रहे हैं:

"कुछ भी हो, इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं कि किसी प्रक्रिया के विकास की हर मंज़िल में केवल एक ही अन्तरविरोध प्रधान अन्तरविरोध होता है, जो प्रमुख भूमिका अदा करता है।

"इस प्रकार यदि किसी प्रक्रिया में अनेक अन्तरविरोध मौजूद हों तो उनमें अवश्य ही एक प्रधान अन्तरविरोध होता है, जो एक प्रमुख और निर्णयात्मक भूमिका अदा करता है, जबकि बाकी तमाम अन्तरविरोध गौण और अधीनस्थ होते हैं। इसलिए किसी ऐसी जटिल प्रक्रिया का अध्ययन करते समय जिसमें दो या दो से ज़्यादा अन्तरविरोध मौजूद हों, हमें उसके प्रधान अन्तरविरोध को खोज निकालने की भरसक कोशिश करनी चाहिए। जहाँ एक बार हमने उसके प्रधान अन्तरविरोध को पकड़ लिया, तो तमाम समस्याओं को आसानी से हल किया जा सकेगा।. *...(श्यामसुन्दर ने केवल इतना हिस्सा ही उद्धृत किया है–लेखक)*

"लेकिन यह स्थिति स्थिर नहीं होती; अन्तरविरोध के प्रधान और अप्रधान पहलू एक-दूसरे में बदल जाते हैं तथा उसी के अनुसार वस्तु का स्वरूप भी बदल जाता है। अन्तरविरोध के विकास की किसी एक प्रक्रिया में अथवा किसी एक मंज़िल में, प्रधान पहलू "क" है और अप्रधान पहलू "ख" है; विकास की दूसरी मंज़िल में अथवा अन्य प्रक्रिया में "क" और "ख" की भूमिकाएँ आपस में बदल जाती हैं–यह परिवर्तन इस बात से निर्धारित होता है कि किसी वस्तु के विकास में एक दूसरे से संघर्ष करने वाले दोनों पहलुओं की शक्ति में कितनी बढ़ती या घटती हुई है।

"हम अक्सर "नूतन द्वारा पुरातन का स्थान लेने" की चर्चा करते हैं। नूतन द्वारा पुरातन का स्थान लेना विश्व का सार्वभौमिक और सदा के लिए अनुल्लंघनीय नियम है। कोई वस्तु अपने स्वरूप तथा अपनी परिस्थितियों के अनुसार अनेक प्रकार की छलाँगों के ज़रिये एक दूसरी वस्तु में बदल जाती है; नूतन द्वारा पुरातन का स्थान लेने की प्रक्रिया यही है। प्रत्येक वस्तु में उसके नये पहलू और पुराने पहलू के बीच अन्तरविरोध निहित होता है, और यह अन्तरविरोध सिलसिलेवार अनेक पेचीदा संघर्षों को जन्म देता है। इन संघर्षों के परिणामस्वरूप नया पहलू छोटे से बड़ा बन जाता है और आगे बढ़कर अपना प्रभुत्व कायम कर लेता है, जबकि पुराना पहलू बड़े से छोटे में बदल

जाता है और कदम-ब-कदम विनाश की ओर अग्रसर होता है। पुराने पहलू पर नये पहलू का प्रभुत्व कायम होते ही पुरानी वस्तु गुणात्मक रूप से एक नयी वस्तु में बदल जाती है। इस प्रकार किसी वस्तु का स्वरूप मुख्यत: अन्तरविरोध के प्रधान पहलू द्वारा ही निर्धारित होता है, उस पहलू द्वारा जो अपना प्रभुत्व कायम कर चुका है। जब अन्तरविरोध के प्रधान पहलू में जिसने अपना प्रभुत्व कायम कर लिया है, परिवर्तन होता है तो उसकी अनुकूल वस्तु का स्वरूप भी बदल जाता है।" *(माओ, अन्तरविरोध के बारे में, संकलित रचनाएँ, ग्रन्थ-1, पृ. 595-598, विदेशी प्रकाशन-गृह, पेकिंग, 1971)*

पाठक यहाँ समझ गये होंगे कि श्यामसुन्दर ने पूरी बुद्धि लगाकर जो सिद्ध करने का प्रयास किया था, वह प्रयास असफल हो गया है। माओ ने यहाँ स्पष्ट किया है कि प्रधान अन्तरविरोध किसी भी वस्तु के विकास के अलग-अलग चरणों में बदल जाया करते हैं, और असली काम इसी बात को समझना है कि किसी चरण का प्रधान अन्तरविरोध कौन-सा है। अब आते हैं भारत के प्रश्न पर। भारत में 15 अगस्त 1947 से 26 जनवरी 1950 तक के समय की चारित्रिक आभिलाक्षणिकता थी भारतीय पूँजीपति वर्ग द्वारा अपनी सत्ता का सुदृढ़ीकरण करना। यहाँ पर हम 'लाल तारा-2' के कुछ अंशों को उद्धृत करना चाहेंगे जिससे कि यह स्पष्ट हो जायेगा कि 1947 से 1950 तक तो राज्यसत्ता का प्रश्न भी ठीक से हल नहीं हो पाया था, भले ही वह अनैसर्गिक तौर पर अस्तित्व में आयी हो।

"इस पूरे दौर में कांग्रेस के सामने दो महत्वपूर्ण काम और थे–अनौपनिवेशीकरण (डीकोलोनाइज़ेशन) का और अर्द्धसामन्ती भूमि व्यवस्था को वर्तमान समय के अनुरूप करने का, जो भारतीय पूँजीपति वर्ग के विकास की सम्भावनाओं को और ज़्यादा विस्तार दे सके।

"15 अगस्त 1947 से 26 जनवरी 1950 तक का समय मुख्यत: इन्हीं कामों को सम्पन्न करने का था, जो भावी पूँजीवादी राज्य की नींव थे और भारतीय पूँजीपति वर्ग के अनुरूप थे।....

"15 अगस्त 1947 से 26 जनवरी 1950 के बीच का समय एक ऐसा समय था जब अनौपनिवेशीकरण (डीकोलोनाइज़ेशन) का काम पूरा नहीं हुआ था। अनौपनिवेशीकरण शब्द का हम यहाँ एक सीमित अर्थ में प्रयोग कर रहे हैं, जैसा कि भारतीय पूँजीपति वर्ग कर सकता था, या कहना चाहिए कि जैसा उसने पूरा किया। अर्द्धसामन्ती भूमि-व्यवस्था मौजूद थी। भूमि सुधार का काम अभी पूरा नहीं हुआ था। यहाँ भूमि सुधार का भी हम एक ख़ास सीमित अर्थ में प्रयोग कर रहे हैं, जैसा कि बुर्जुआ वर्ग कर सकता था, या जैसा कि उसने किया। कुल मिलाकर, इस दौर में ब्रिटिश उपनिवेशवादियों द्वारा प्रदत्त आर्थिक सामाजिक संरचना ही मौजूद थी; केवल एक फर्क यह था कि ब्रिटिश उपनिवेशवादियों की जगह भारतीय पूँजीपति वर्ग और उसकी राजनीतिक पार्टी सत्ता में थी। उस समय इसे कई आवश्यक कामों को पूरा करना था, जिसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। देश का प्रशासन तन्त्र अभी कमज़ोर था; आज की तुलना में वह कुछ भी नहीं था। देश में स्वतन्त्र क्षेत्रीय आर्थिक इकाइयाँ मौजूद थीं; आज की तरह एक एकीकृत बाज़ार (यूनीफायड मार्केट) नहीं बन पाया था। संचार के साधन भी आज की तुलना में काफी कम थे। औद्योगिक आधार भी काफी सीमित था। आधारभूत उद्योग-धन्धे भी नाममात्र के ही थे।" *(लाल तारा-2, पृ. 82-83)*

इस उद्धरण ने हमारी अब तक कही गयी बातों को पाठक साथियों के लिए थोड़ा और स्पष्ट कर दिया होगा। आगे श्यामसुन्दर एक और हास्यास्पद तर्क पेश करते हैं। वह कहते हैं कि हमने 'लाल तारा-2' में कहा है कि 1947 में पूँजीवादी विकास की जो प्रक्रिया शुरू हुई वह आज तक जारी है। उनका मानना है कि हमारा ऐसा कहना ग़लत है। तो हमें क्या कहना चाहिए था? क्या यह कि 1947 में जो पूँजीवादी विकास की प्रक्रिया शुरू हुई वह 1983 में रुक गयी थी? श्यामसुन्दर शायद ऐसा ही मानते होंगे, लेकिन फिर वह नवउदारवाद, नयी आर्थिक नीतियों जैसी पूँजीपति वर्ग की नीतियों की कोई व्याख्या नहीं

कर सकते; न ही वह 1980 के दशक के मध्य तक मौजूद पब्लिक सेक्टर पूँजीवाद और 1990 से खुले तौर पर स्थापित नवउदारवादी पूँजीवाद में कोई फर्क बता सकते हैं! ज़ाहिर सी बात है, जब तक पूँजीवाद के स्थान पर समाजवाद स्थापित नहीं किया जाता, तब तक अपनी तमाम मानवद्रोही नीतियों और शोषण के नये-नये तौर-तरीकों के साथ पूँजीवाद का विकास होता रहेगा; पूँजीवाद के विकास का अर्थ जनता का भला होना नहीं है; पूँजीवाद के विकास की बात करने का अर्थ है पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के चरणबद्ध विकास को तमाम परिवर्तनों के साथ समझना। और ऐसा न सिर्फ़ भारत बल्कि ऐसे किसी भी देश के बारे में कहा जा सकता है, जहाँ पूँजीवाद है। वरना, **मॉरिस डॉब, पॉल स्वीज़ी, रॉडनी हिल्टन** जैसे तमाम उत्कृष्ट मार्क्सवादी बुद्धिजीवी पूँजीवाद का कोई इतिहास नहीं लिख सकते थे, और न ही मार्क्स 'पूँजी' लिख सकते थे। क्योंकि इतिहास किसी परिवर्तनशील वस्तु का ही लिखा जा सकता है। लेकिन श्यामसुन्दर के समझ में सिर्फ़ इतनी बात आयी कि पूँजीवादी विकास का सिर्फ इतना अर्थ है कि पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध प्रमुख बन गये! लेकिन यह तो 'लाल तारा-2' में असंख्य जगहों पर लिखा गया है कि 1950 का दशक ख़त्म होते होते कृषि समेत सभी क्षेत्रों में पूँजीवादी सम्बन्ध निर्णायक तौर पर स्थापित हो चुके थे! फिर श्यामसुन्दर ऐसी कूपमण्डूक दलील क्यों दे रहे हैं? दो ही बातें हो सकती हैं या तो श्यामसुन्दर निकृष्ट कोटि की बेईमानी का मुज़ाहिरा कर रहे हैं या फिर अव्वल दर्ज़े की मूर्खता का! हम फिर दुहरा दें कि हम मानकर चलते हैं कि श्यामसुन्दर बेईमान नहीं होंगे!!

श्यामसुन्दर आरोप लगाते हैं कि हमने 1946 और 1947 से 1950 के दो कालखण्डों को गड्डमड्ड कर दिया है। उनका कहना है कि हमारा यह कहना कि 1946 से 1950 तक का दौर वह दौर था जब देश में जनता की जनवादी क्रान्ति हो सकती थी, ग़लत है। हम अभी भी इस बात पर कायम हैं, और इसके कारणों का ज़िक्र हम तर्कों समेत ऊपर कर आये हैं। 1947 से लेकर 1950 तक का दौर पूँजीवादी राज्यसत्ता के भी सुदृढ़ीकरण का दौर था; अभी तमाम परिधिगत राज्य भारत में शामिल नहीं हुए थे, सामन्ती रियासतें शामिल होने में प्रतिरोध कर रही थीं, पूँजीवादी संविधान का निर्माण नहीं हुआ था, राज्य मशीनरी का पूँजीवादी सुदृढ़ीकरण नहीं हुआ था। 1947 से 1950 का दौर एक संक्रमण का दौर था, और इसमें श्यामसुन्दर को चकित हिरनी के समान अचम्भित होने की कोई ज़रूरत नहीं है, इतिहास में पहले भी ऐसे दौर आये हैं। इसके बारे में हम ऊपर एंगेल्स का एक उद्धरण दे आये हैं। लेकिन यहाँ हम श्यामसुन्दर को उनके आश्चर्यचकित अवस्था में छोड़कर आगे बढ़ते हैं।

साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद और ब्रिटिश-पूर्व भारत में पूँजीवादी विकास की सम्भावनाओं के सवाल पर श्यामसुन्दर की बन्दर-पलटी!

मूर्खों का शिरोमणि होने का सम्मान हासिल करने के बावजूद कोई व्यक्ति बात बदलने की कला में इतना माहिर हो सकता है, यह श्यामसुन्दर ने इस विषय पर अपने पेपर के इस उपशीर्षक में साबित कर दिया है। वह कहते हैं कि जब हमने यह कहा कि यदि ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने भारत को उपनिवेश न बनाया होता तो यहाँ पर अपनी राष्ट्रीय आभिलाक्षणिक विशिष्टताओं के साथ पूँजीवाद का विकास हुआ होता, जो हर मायने में आज के उत्तर-औपनिवेशिक पिछड़े और बौने पूँजीवाद से कहीं ज़्यादा स्वस्थ और उन्नत होता, तो इसमें उनकी कोई असहमति नहीं थी। हमने यह भी कहा था कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के आने के पहले पूँजीवाद के विकास की सम्भावनाएँ मौजूद थीं, और देश के कई हिस्सों में पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों का अंकुरण शुरू भी हो गया था। श्यामसुन्दर अपने पेपर में लिखते हैं, "इसमें तो किसी को भी कोई सन्देह नहीं हो सकता कि यदि भारत का औपनिवेशीकरण न होता तो कभी न कभी इसकी 'एशियाई उत्पादन प्रणाली' के गर्भ से पूँजीवाद

का जन्म अनिवार्य तौर पर होता।" यह बात बदलने के लिए बन्दर-पलटी मारने की एक उत्कृष्ट मिसाल है! हम श्यामसुन्दर को चुनौती देते हैं कि वह कलायत बहस के वीडियो को एक बार फिर से देखें और प्रसारित करें। कलायत बहस के दौरान ऐसी सम्भावना पर श्यामसुन्दर बिफर पड़े थे और यह कहने की हद तक चले गये थे कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने ही भारत में पूँजीवाद को स्थापित किया और इस मामले में उसकी ऐतिहासिक तौर पर एक प्रगतिशील भूमिका थी। इसके बाद हमारी ओर से की गयी आलोचना के बाद इस मामले पर श्यामसुन्दर ने रक्षात्मक रुख़ अपनाते हुए चोर दरवाज़े से इस बात को स्वीकार किया था कि भारत में स्वतन्त्र पूँजीवादी विकास हो सकता था। लेकिन अभी वह इस बात को ऐसे रख रहे हैं मानो यह उनका मौलिक विचार हो! लेकिन यहाँ भी, देखिये, श्यामसुन्दर अपनी मूर्खता की एक मिसाल दे ही गये! 'एशियाई उत्पादन प्रणाली' कोई उत्पादन प्रणाली नहीं होती है। मार्क्स ने इस शब्द का एक-दो जगहों पर 'फिगरेटिव' तरीके से इस्तेमाल किया है और बाद में लाक्षणिक या रूपात्मक अर्थ में भी मार्क्स ने इस शब्द के इस्तेमाल का परित्याग कर दिया था। श्यामसुन्दर को मार्क्स द्वारा रूस के क्रान्तिकारियों की पहली पीढ़ी की एक नेता वेरा ज़ासुलिच को लिखे गये पत्र को पढ़ना चाहिए, **शायद** उनका फण्डा क्लियर हो जाये।

अब आते हैं साम्राज्यवाद द्वारा एशिया और अफ्रीका के देशों को उपनिवेश बना लिये जाने कर प्रक्रिया के स्वाभाविक होने या अस्वाभाविक होने के बारे में श्यामसुन्दर के अस्वाभाविक विचारों पर!

श्यामसुन्दर वापस अपने शिक्षक के लबादे में आते हैं और स्कूल-मास्टर की तरह हमें फटकार लगाते हैं कि हमने भारत के उपनिवेशीकरण को 'अस्वाभाविक' माना है! उनके अनुसार यह तो विश्व पूँजीवाद की एक स्वाभाविक और नैसर्गिक प्रक्रिया थी कि साम्राज्यवाद के दौर में पिछड़े देशों को उन्नत पूँजीवादी देशों ने उपनिवेश बना लिया! वास्तव में यह त्रासद है कि ऐसे कूपमण्डूकतापूर्ण तर्कों (जैसा कि स्कूल के मास्टर हमेशा ही दिया करते हैं!) का जवाब देना पड़ रहा है। आइये, थोड़ा साफ़-नज़र हो लें।

हमने उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया को कभी भी स्वाभाविक या अस्वाभाविक करार नहीं दिया है। हमने यह लिखा है कि भारतीय सामाजिक संरचना अपनी गति और अपने अन्तरविरोधों से विकासमान थी; अंग्रेज़ों के आने के पहले से ही उसमें अपने किस्म से पूँजीवादी विकास के बीज और लक्षण मौजूद थे; भारतीय सामाजिक संरचना की यह नैसर्गिक गति ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा उपनिवेश बना लिये जाने के कारण बाधित हो गयी। इस बात पर हम बिल्कुल अटल हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि हम साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की विश्व ऐतिहासिक परिघटना को आकस्मिक, अनैसर्गिक और अस्वाभाविक करार दे रहे हैं। हम सिर्फ़ इतना कह रहे हैं कि भारत का नैसर्गिक विकास उपनिवेशीकरण के चलते बाधित हो गया और उसका दंश हम आज तक झेल रहे हैं। कई देश ऐसे भी थे जो कि उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद की विश्व ऐतिहासिक परिघटना के अस्तित्व में आने के बाद भी गुलाम नहीं बने और वहाँ अपनी नैसर्गिक गति के साथ, अपनी राष्ट्रीय आभिलाक्षणिकताओं के साथ पूँजीवाद का विकास हुआ; मिसाल के तौर पर, जापान। किसी परिघटना के विश्व ऐतिहासिक तौर पर स्वाभाविक होने का अर्थ यह नहीं है कि वह पूर्णत: सार्वभौमिक तौर पर हरेक क्षेत्र और हरेक हिस्से में अपने समान रूप में घटित होती दिखायी देगी! और इसलिए विशिष्ट ऐतिहासिक कारणों के चलते भारत गुलाम बना और जापान गुलाम नहीं बना। यही माओ द्वारा बताया गया अन्तरविरोध की सार्वभौमिकता और विशिष्टता का नियम है। एक जगह राष्ट्रीय आर्थिक-सामाजिक विकास नैसर्गिक हुआ, और दूसरी जगह वह बाधित हो गया। इसका अर्थ कोई मूर्ख ही यह निकालेगा कि हम साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की पूरी परिघटना को अस्वाभाविक या अनैसर्गिक बता रहे हैं। लेकिन चूँकि यह अर्थ श्यामसुन्दर ने निकाला है, इसलिए हमें इस पर कोई आश्चर्य भी नहीं है। वैसे दुनिया की हर परिघटना के कुछ वस्तुगत, ढाँचागत और लोगों की भावनाओं और इच्छाओं से स्वतन्त्र कारण होते हैं। यह सीखने और समझने के लिए श्यामसुन्दर वह आख़िरी व्यक्ति होंगे जिनके पास हम जायेंगे। आगे वह मार्क्स का एक उद्धरण देते हैं, जिसमें मार्क्स का मानना है कि एशियाई समाज अन्दर से ठहरावग्रस्त हैं और

उनके ठहराव को तोड़ने के लिए किसी बाह्य शक्ति की ज़रूरत है और इसी शक्ति की भूमिका भारत के मामले में ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने निभायी। हम फिर श्यामसुन्दर को याद दिला दें कि मार्क्स अपनी इस प्रस्थापना को त्याग चुके थे और उन्होंने वेरा ज़ासुलिच को लिखे पत्र में साफ़ लिखा था कि एशियाई समाजों को ठहरावग्रस्त तौर पर चित्रित करना उनकी एक भूल थी, जिसका कारण यह था कि उनके पास पर्याप्त तथ्य और स्रोत मौजूद नहीं थे। दूसरी बात, मार्क्स ने इस बात को भी माना कि उनका यह सूत्रीकरण द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के विरुद्ध था जिसका मानना है कि हर चीज़ अपने आन्तरिक अन्तरविरोधों से विकसित होती है, और बाह्य कारकों की भूमिका गौण होती है। अब ब्रिटिश साम्राज्यवाद के बाह्य कारक ने भारत में प्रगतिशील परिवर्तन की सम्भावना के आन्तरिक अन्तरविरोधों को विकसित होने में कोई सहायक भूमिका निभायी या नुकसानदेह भूमिका निभायी यह आज हम सभी जानते हैं। हम ऊपर भारतीय इतिहास के औपनिवेशिक काल के बारे में लिखे गये उपशीर्षक पर ग़ौर करने के लिए पाठकों से आग्रह करेंगे। लेकिन श्यामसुन्दर अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद के बारे में कोई नकारात्मक बात बर्दाश्त नहीं कर सकते! वास्तव में, उनकी पद्धति यहाँ भी एक प्रच्छन्न त्रात्स्कीपंथी के रूप में सामने आ गयी है। त्रात्स्की भी आन्तरिक अन्तरविरोधों की बजाय बाह्य अन्तरविरोधों पर बल देता था, और इसीलिए उसने 'क्रान्ति का निर्यात' न करने के लिए स्तालिन की आलोचना की थी, जबकि स्तालिन का मानना था कि हर सामाजिक संरचना का विकास नैसर्गिक तौर पर होना चाहिए, उस पर कोई भी विशिष्ट व्यवस्था मनमुआफिक तरीके से नहीं थोपी जा सकती। अंग्रेज़ न तो भारत में पूँजीवाद लाना चाहते थे, और न ही वह भारत में पूँजीवाद को लाये। यह हम ऊपर तथ्यों और तर्कों से संक्षेप में प्रदर्शित कर आये हैं! लेकिन, श्यामसुन्दर का अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद से प्रेम हमारे लिए एक रहस्य है! जब 'लाल तारा-2' में मार्क्स के एशिया के बारे में शुरुआती विचारों की आलोचना हमने की थी, तब हमें मार्क्स द्वारा वेरा ज़ासुलिच को लिखे गये पत्र की जानकारी नहीं थी। लेकिन तब भी मार्क्स के किसी विशिष्ट मूल्यांकन की आलोचना करने से कोई मार्क्सवाद-विरोधी नहीं हो जाता, जैसा कि श्यामसुन्दर दिखलाना चाहते हैं! एशियाई समाजों का अध्ययन मार्क्स का मुख्य क्षेत्र नहीं था। **अगर मार्क्स की हरेक बात सही होगी, तो मार्क्स ग़लत हो जायेंगे!!** जाहिर सी बात है, यह अद्वन्द्वात्मक सहीपन धर्म के क्षेत्र में पाया जाता है, विज्ञान के क्षेत्र में नहीं। मार्क्स ने चीज़ों के विश्लेषण का एक अप्रोच, एक पद्धति, एक विश्व-दृष्टिकोण और विज्ञान दिया। इस विज्ञान के ज़रिये मार्क्स के किसी ग़लत मूल्यांकन की आलोचना करना मार्क्सवाद-विरोधी होना नहीं है, बल्कि एक तर्कसंगत मार्क्सवादी होना है। लेकिन श्यामसुन्दर जैसे लोग यमुनापारीण ब्राह्मणों की तरह मार्क्स के विज्ञान को समझने की बजाय, मार्क्स की मूर्ति लगाकर, अगरबत्ती जलाकर, माला जपते रहते हैं!

साथियो, सवाल यह है कि आप किस ज़मीन पर खड़े होकर इस सवाल को देख रहे हैं। भारतीय जनता और उसके राजनीतिक अतीत और भविष्य के साथ क्रान्तिकारी तदनुभूति और एकजुटता के साथ इस सवाल को देखा जाय, तो यह समझना मुश्किल नहीं होगा कि भारत का स्वतन्त्र आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक विकास साम्राज्यवाद द्वारा गुलाम बनाये जाने के कारण बाधित हुआ, और इसका साम्राज्यवाद की परिघटना की स्वाभाविकता या अस्वाभाविकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। लेकिन चूँकि श्यामसुन्दर अंग्रेज़ों के औपनिवेशिक शासन की "पावन स्मृतियों" के सामने करबद्ध, धन्यवाद-ज्ञापन के लिए खड़े हैं कि "हे अंग्रेज़ों! धन्यवाद कि तुम हमें एशियाई मन्थरता, जड़ता और ठहराव से निकालकर पूँजीवाद में लाये!"; इसलिए श्यामसुन्दर के लिए तो भारतीय जनता की दृष्टि से भी साम्राज्यवाद द्वारा उपनिवेश बना लिया जाना हमारे नैसर्गिक विकास का ही एक अंग था! हम श्यामसुन्दर को अंग्रेज़ों के धन्यवाद-ज्ञापन के काम में 'डिस्टर्ब' नहीं करते हुए आगे बढ़ते हैं।

अगले उपशीर्षक में भारतीय राज्यसत्ता की नैसर्गिकता के बारे में श्यामसुन्दर ने फिर एक बार अपनी कूपमण्डूकता का प्रदर्शन किया है। वह अधिरचना और आर्थिक आधार और राज्यसत्ता और उत्पादन सम्बन्धों के सिलसिले में हमारी ही बात को उद्धृत करते हैं, उससे सहमति जताते हैं और फिर कहते हैं कि अंग्रेज़ साम्राज्यवादियों ने जिस राज्यसत्ता की स्थापना की थी, वह भी उस आर्थिक आधार के अनुरूप रही होगी जिसकी स्थापना उन्होंने की थी। निश्चित तौर पर, महोदय। लेकिन

अंग्रेज़ों ने जिस आर्थिक आधार की रचना की थी वह पूँजीवादी नहीं था! यह हम ऊपर दिखला चुके हैं। आप मार्क्स के जिस उद्धरण से यह साबित करने की कोशिश कर रहे हैं, उससे कुछ भी साबित नहीं होता। भारत में सामन्ती सम्बन्धों को बरकरार रखते हुए अंग्रेज़ों ने उसे साम्राज्यवादी मेट्रोपोलिस पर निर्भर अर्थव्यवस्था बनाया; इसके लिए उन्होंने भारत को कच्चा माल आपूर्ति करने वाली और बने-बनाये मालों के लिए बाज़ार की भूमिका निभाने वाली एक अर्थव्यवस्था के रूप में ढाला। इसके चलते कुछ उद्योग-धन्धों और मालों के आवागमन के लिए कुछ अवसंरचनात्मक ढाँचे का विकास किया, और वह भी बहुत सीमित और बहुत नियन्त्रित रूप से। भारतीय औद्योगिक पूँजी के विकास का उन्होंने हमेशा दमन किया और उसे कम-से-कम उन्नत होने का मौका दिया और वह भी मजबूरी में। और उद्योगों में तो कभी कोई सामन्ती व्यवस्था होती नहीं है, सिवाय गिल्ड व्यवस्था के दौर के, इसलिए असली सवाल कृषि में पूँजीवाद के विकास का होता है। और हम ऊपर तथ्यों और तर्कों समेत प्रदर्शित कर चुके हैं कि अंग्रेज़ों ने कृषि क्षेत्र में सामन्ती सम्बन्धों को लगभग 'फ्रीज़' करके रखा था क्योंकि वह समझ गये थे कि भारत में शासन के लिए उनके सामाजिक आधार का काम सबसे प्रतिक्रियावादी वर्ग, यानी कि सामन्ती ज़मीन्दार कर सकते हैं। मार्क्स ने कुछ अखबारी लेखों और कुछ पत्रों में बेहद कम सूचना, तथ्यों और स्रोतों के आधार पर कुछ प्रेक्षण रखे थे, जिसे मार्क्स ने बाद में पूरी तरह से बदल डाला। श्यामसुन्दर को इसके बारे में पता होना चाहिए क्योंकि मार्क्स द्वारा ब्रिटिश साम्राज्यवाद की भारत में भूमिका के बारे अपने विचार बदले जाने की बात, और वेरा ज़ासुलिच को लिखे गये पत्र की बात कलायत बहस में एक बार से ज़्यादा बार की गयी थी! लेकिन या तो श्यामसुन्दर विस्मृति के रोग के शिकार हैं, या मानसिक विक्षिप्तता की अवस्था में पहुँच गये हैं। हम एक बार फिर कहेंगे कि कलायत बहस का वीडियो टेप प्रसारित करें, या अगर नहीं कर सकते तो हमें एक कॉपी दें, हम प्रसारित कर देंगे।

इसके आगे राजनीति और अर्थनीति के सम्बन्धों के बारे में लिखते हुए श्यामसुन्दर ने मूर्खता के असीम होने के सिद्धान्त की फिर से पुष्टि की है! वाकई, मानना पड़ेगा, यह महोदय कूपमण्डूकता के प्रदर्शन में थकते नहीं हैं! वह कहते हैं, "वैसे तो अभिनव ने खुद ही लिखा है कि राजसत्ता आर्थिक आधार से उपजी हुई वह राजनीतिक शक्ति होती है जो अपने आर्थिक आधार की सेवा और रक्षा करती है तब जब क्रान्ति के जरिये असली काम आर्थिक आधार को बदलने का ही होता है, तो फिर सिवाय इसके रास्ता क्या बचता है कि जो राजनीतिक शक्ति अथवा राजसत्ता उस आधार की सेवा और रक्षा करती है उसको पलटा जाय। वैसे तो ये लोग प्रश्न उठाते हैं कि क्या सिर्फ क्रान्ति की मंज़िल राजसत्ता के चरित्र से तय हो सकती है? क्या इस मामले में आर्थिकता का पहलू नदारद रहता है? अरे भई! *(!!!-लेखक)* नहीं (!!!!-लेखक) राजसत्ता के चरित्र में ही आर्थिक पहलू अन्तर्निहित रहता है।" अब देखिये! श्यामसुन्दर के घिसे जाने की वजह से गंजत्व को प्राप्त हो चुके तर्क भी और घिसे जाने से तंग आ चुके हैं। श्यामसुन्दर फिर से स्कूल मास्टर की भूमिका में पदार्पण करते हैं और बताते हैं कि राजनीति हर हमेशा अर्थनीति की सान्द्रतम अभिव्यक्ति होती है। निश्चित तौर पर, और चूँकि ऐसा होता है बिल्कुल इसीलिए भारतीय पूँजीपति वर्ग के हाथ में जो राज्यसत्ता आयी उसे अपने वर्ग हितों के अनुरूप बनाने के लिए उसे तीन वर्षों का समय लगा! श्यामसुन्दर एक बार फिर यह बताना भूल गये कि 1947 में जो राज्यसत्ता भारतीय पूँजीपति वर्ग के हाथों में आयी वह देश के पैमाने पर आर्थिक संघर्षों के तीव्र होते जाने, यानी कि उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच, वर्गों के बीच और आधार और अधिरचना के बीच संघर्षों के तीव्र होते हुए अपनी असम्भाव्यता के बिन्दु पर पहुँच जाने और नतीजतन किसी क्रान्ति के जरिये उसके हाथों में नहीं आयी थी। इसीलिए भारतीय पूँजीपति वर्ग को 1947 से 1950 तक के संक्रमण के दौर की ज़रूरत पड़ी जिसमें उसनी राज्यसत्ता को अपने वर्ग हितों के अनुरूप संगठित किया और सुदृढ़ीकृत किया। लेकिन श्यामसुन्दर बिना मूल प्रश्नों को समझे हुए अपने घिसे-पिटे तर्कों को दुहराते जाते हैं और मूर्खतापूर्ण फार्मूलेबाज़ी करते हैं।

चुनाव के बारे में सही लेनिनवादी दृष्टिकोण और हमारे द्वारा उसकी प्रस्तुति को विकृत करने का श्यामसुन्दर का कूपमण्डूकतापूर्ण प्रयास

श्यामसुन्दर एक बार फिर से स्कूल मास्टर का लबादा पहनते हैं और बताते हैं कि किस प्रकार उन्होंने कलायत बहस मके लेनिन को उद्धृत करके पूँजीवादी चुनावों में हिस्सेदारी के बारे में लेनिनवादी दृष्टिकोण को लोगों के सामने साफ़ कर दिया था। एक बार हम फिर श्यामसुन्दर को चुनौती देते हैं कि अपने फरेब को बन्द करके कलायत बहस के वीडियो को सभी साथियों के बीच वितरित कर दें। बहस के दौरान लेनिन की प्रस्थापनाओं के बारे में जुबानी जमाखर्च और व्यर्थ की जुगाली करने के बावजूद श्यामसुन्दर ने अपना एक नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया और कहा कि किसी भी रूप में पूँजीवादी चुनावों में हिस्सेदारी ग़लत है। लेकिन हमारे पक्ष के द्वारा यह बात स्पष्ट किये जाने के बाद कि लेनिन ने पूँजीवादी चुनावों के रणकौशलात्मक इस्तेमाल की बात की है, बशर्ते कि वह सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी वर्ग संघर्ष को आगे ले जाने में सहायक हो। हमने यह भी स्पष्ट किया था कि यही कारण था कि बोल्शेविक पार्टी ने अपने दूमा धड़े को निर्माण किया था। साथ ही लेनिन ने पार्टी की एक वामपंथी भूल की ओर भी बोल्शेविक पार्टी के अन्य साथियों का ध्यान खींचा और बताया कि 1906 में दूमा का बहिष्कार करना पार्टी की भूल थी। इसके बाद कलायत बहस में यह बात उठी थी कि आज चुनावों में भागीदारी को लेकर हमारी अवस्थिति क्या है? हमने अपनी अवस्थिति स्पष्ट करते हुए कहा था कि संसद के रणकौशलात्मक उपयोग, बशर्ते की वह क्रान्ति की ओर बढ़ने में सर्वहारा वर्ग के लिए एक सहायक कदम हो, के लेनिनवादी सिद्धान्त को हम सामान्य सूत्रीकरण के तौर पर सही मानते हैं, लेकिन हमारा मानना है कि वर्तमान भारतीय परिस्थितियों में बुर्जुआ वर्ग और उसके सभी पूँजीवादी प्रतिनिधि निकाय इस हद तक बेपर्द हो चुके हैं कि अब संसद में रणकौशलात्मक भागीदारी कर बुर्जुआ वर्ग को और नंगा करने पर ऊर्जा ख़र्च करना व्यर्थ है। शब्दशः हमारी बात यह थी कि बुर्जुआ वर्ग के शरीर पर अब सूत का एक धागा भी नहीं बचा है कि उसे और नंगा किया जाय। श्यामसुन्दर इस पूरी बात को जानबूझकर गोल कर गये हैं और इसीलिए वह बहस का वीडियो तहखाने में दबाकर बैठ गये हैं, ताकि अपने पेपर में बेबुनियाद लफ्फाज़ियाँ कर सकें। इसके बाद वह अपने एक साथी पाल सिंह के, जो कुछ दिन पहले तक एक नेटवर्क मार्केटिंग कम्पनी आर.सी.एम. के लिए रैलियाँ निकाला करते थे, के सवाल का ज़िक्र किया जो उन्होंने कलायत बहस में उठाया था। पाल सिंह ने पूछा कि यदि कोई ऐसी परिस्थिति हो जिसमें पूँजीवादी चुनावों का रणकौशलात्मक इस्तेमाल करने की स्थिति पैदा हो और कम्युनिस्ट पार्टी उन चुनावों में हिस्सेदारी करके जीत जाती है, तो क्या उसे सरकार बनानी चाहिए? हमने इसका एक लम्बा जवाब दिया जिसे एक बार फिर श्यामसुन्दर जानबूझकर गोल कर गये हैं, और इसलिए हम एक बार फिर उन्हें चुनौती देते हैं कि कलायत बहस का वीडियो प्रसारित करें! हमने इस सवाल के जवाब में कहा कि अव्वलन तो अब कोई ऐसी स्थिति पैदा होने वाली नहीं है और यह एक हाइपोथेटिकल सवाल है। लेकिन फिर भी अगर एक पल को मानें की ऐसी कोई स्थिति पैदा हो गयी तो पार्टी निश्चित तौर पर सर्वहारा क्रान्ति के लक्ष्य की प्रगति के लिए चुनावों में रणकौशलात्मक हिस्सेदारी करेगी। इसके बाद हमने कहा कि वैसे इतिहास में ऐसी अपवादस्वरूप स्थिति सिर्फ एक बार पैदा हुई है, और वह भी हूबहू इसी रूप में नहीं जैसा कि इस सवाल में बताया गया है, जब कम्युनिस्ट या सोशलिस्ट पार्टी ने पूँजीवादी चुनावों में हिस्सेदारी करके चुनाव जीत लिया हो–और वह वाकया था चिले का जब वहाँ की सोशलिस्ट पार्टी ने चुनाव जीतकर सल्वादोर अयेन्दे के नेतृत्व में सरकार बनायी थी। हमने यह भी स्पष्ट किया कि यहाँ अयेन्दे की पार्टी पूँजीवादी चुनावों का रणकौशलात्मक इस्तेमाल करने की सोच रखती ही नहीं थी, और वह चुनावों का रणनीतिक इस्तेमाल कर रही थी। वह लेनिन द्वारा काऊत्स्की को दिये गये जवाब और राज्य और क्रान्ति की उनकी थीसिस को नहीं समझते थे कि सरकार ही पूरी राज्यसत्ता नहीं होती बल्कि समूचे बुर्जुआ राज्य तंत्र के असली खाने के दाँत नौकरशाही, सेना, पुलिस, और अन्य सशस्त्र बल होते हैं, जो कि राज्यसत्ता के स्थायी निकाय, उसकी स्थायी कार्यकारिणी है। इसलिए महज़ विधायिका के अंग पर कब्ज़ा करके समाजवादी क्रान्ति को अंजाम नहीं दिया जा सकता

है, बल्कि समूची पूँजीवादी राज्यसत्ता को चकनाचूर करके और उसके स्थान पर सर्वहारा राज्यसत्ता को खड़ा करके ही समाजवादी क्रान्ति को अंजाम दिया जा सकता है। और 11 सितम्बर, 1973 में अमेरिकी साम्राज्यवादी मदद से चिले के जनरलों द्वारा किये गये तख़्तापलट में यह बात साबित भी हो गयी। हमने यह पूरी बात रखी थी और इसके बावजूद श्यामसुन्दर बेईमानी करते हुए अपनी बात जबरन हमारे मुँह में ठूँसने की बेशर्म कोशिश कर रहे हैं। इसके बाद हमने कहा कि आज की पूँजीवादी व्यवस्था में अपवादस्वरूप भी ऐसी स्थिति पैदा होने की गुंजाइश नगण्य है कि रणकौशलात्मक तौर पर चुनावों का इस्तेमाल करने वाली कोई क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी चुनावों में जीत जाये; ऐसा पहले भी लगभग असम्भव ही था, और आज तो बिल्कुल ही असम्भव है, जबकि बुर्जुआ वर्ग ने अपने विचारों के वर्चस्व को जनसमुदायों में स्थापित करने के अत्यधिक उन्नत तरीके विकसित कर लिये हैं। इसके बाद भी पाल सिंह इस सवाल पर अड़े रहे कि फिर भी मान लीजिये कि अगर पार्टी चुनाव जीत जाती है तो क्या वह सरकार बनायेगी? हमने कहा कि वह किसी अन्य बुर्जुआ पार्टी से गठबन्धन करके कतई सरकार नहीं बनायेगी, लेकिन अगर वह अकेले बहुमत में आयेगी, तो वह निश्चित तौर पर सरकार बनायेगी **लेकिन, और यहाँ से श्यामसुन्दर हमारी बात को एक बार फिर गोल कर गये हैं,** ऐसी सरकार बनाने के बाद भी पार्टी को यह मुग़ालता नहीं होना चाहिए कि समाजवादी क्रान्ति सम्पन्न हो गयी। ऐसी सरकार ज्यों ही अर्थव्यवस्था, समाज और राजनीति के समाजवादी रूपान्तरण के लिए प्रयास करेगी (मिसाल के तौर पर सर्वहारा वर्ग और ग़रीब जनता का सशस्त्रीकरण; पुलिस, सेना और अन्य सशस्त्र बलों के विराट परजीवी ढाँचे को ख़त्म करना; उद्योगों और कृषि का समाजीकरण करना, वगैरह) वैसे ही उसे बुर्जुआ वर्ग और उसकी राज्यसत्ता के असली निकायों से हिंसात्मक प्रतिरोध और हमले का सामना करना पड़ेगा और ऐसे में पार्टी को अपनी क्रान्तिकारी सर्वहारा मिलिशिया के दम पर शासक वर्गों के विरुद्ध क्रान्तिकारी गृहयुद्ध में उतरना पड़ेगा और इसके साथ ही क्रान्ति का असली कार्यभार, यानी कि बुर्जुआ राज्यसत्ता के पूरे ढाँचे को चकनाचूर करने का कार्यभार, पूरा हो सकेगा। ऐसी सरकार कानूनों से कभी समाजवाद नहीं ला सकती, यह हमने बार-बार और स्पष्ट शब्दों में रेखांकित कर दिया था, लेकिन इसके बावजूद श्यामसुन्दर झूठ, फरेब, बेईमानी और कठदलीली पर बेशर्म तरीके से आमादा हैं। वह लेनिन का हवाला देते हुए बताते हैं कि लेनिन ने चुनाव के रणकौशलात्मक इस्तेमाल में बहुमत आने पर भी सरकार बनाने से इंकार किया था। यह एकदम झूठ है। लेनिन ने ऐसा कहीं नहीं लिखा है। लेनिन स्पष्ट रूप से बताते हैं कि बोल्शेविक किसी भी बुर्जुआ शक्ति के साथ गठजोड़ करके कभी सरकार नहीं बनायेंगे। लेनिन ने चुनाव के बाद अपने बूते पर सरकार बनाने के बारे में भी कहीं नहीं लिखा है क्योंकि वह जानते थे कि बुर्जुआ चुनावों में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों की जीत सम्भव नहीं है और अकेले पूर्ण बहुमत में नहीं आ सकते और इसीलिए उन्होंने गठबन्धन सरकार बनाने के बारे में हिदायत दी कि ऐसा नहीं किया जाना चाहिए। इसके बाद श्यामसुन्दर एक काल्पनिक पुतला खड़ा करके तीर चलाना शुरू करते हैं। वह लेनिन के हवाले से बताते हैं कि एक पूरी पार्टी का मन्त्रिमण्डल भी यदि पूर्ण बहुमत के साथ सत्ता में हो, तो वह पूँजीवादी व्यवस्था का बाल भी बाँका नहीं कर सकता। यह कह कौन रहा था? श्यामसुन्दर खण्डन किसका कर रहे हैं? पाल सिंह के एक परिकल्पनात्मक (हाइपोथेटिकल) सवाल के जवाब में हमारे पक्ष द्वारा पूरे विवरणों के साथ जवाब दिया गया और बताया गया कि अगर कम्युनिस्ट पार्टी चुनाव के रणकौशलात्मक इस्तेमाल के जरिये पूर्ण बहुमत में आ जाये (जो कि असम्भव है लेकिन फिर भी पाल सिंह अपने बालहठ पर कायम रहे कि कल्पना की जाये कि ऐसा हो जाता है और फिर इसका जवाब दिया जाय!) तो भी राज्यसत्ता का प्रश्न हल नहीं होता और अन्ततः क्रान्तिकारी गृहयुद्ध के ज़रिये ही यह सवाल हल होगा। लेकिन श्यामसुन्दर इस पूरी बहस को गोल कर गये हैं, हमारे तर्कों को जानबूझकर अपनी मूर्खता की तिजोरी में छिपाने की कोशिश कर रहे हैं। इसलिए हम कहेंगे कि अगर रत्ती भर भी राजनीतिक ईमानदारी बची है तो श्यामसुन्दर कलायत बहस का वीडियो प्रसारित करें। अन्यथा, यही नतीजा निकलेगा कि मूर्ख तो वह हैं ही साथ ही कायर और धूर्त भी हैं!

इसके बाद, श्यामसुन्दर ने हमारे एक मास ऑर्गन (जन पत्रिका) में गयी एक असन्तुलित बात का उल्लेख कर यह साबित करने की कोशिश की है कि हम यह नहीं समझते कि राज्यसत्ता शासक वर्ग की मैनेजिंग कमेटी नहीं है, बल्कि

उसका स्थायी निकाय होती है (हालाँकि यह भी पूरी तरह से सन्तुलित समझदारी नहीं है और हम आगे इसे स्पष्ट करेंगे)। लेकिन मास ऑर्गनों के आधार पर पार्टी की लाइन का निर्धारण करने की जल्दबाज़ी में श्यामसुन्दर हमारे संगठन के राजनीतिक दस्तावेज़ों को पढ़ना भूल गये हैं। हम मास ऑर्गनों में इसी मुद्दे पर सही अवस्थितियों को लिखे जाने के वाकयों का भी ज़िक्र कर सकते हैं और ग़लत वाकयों का भी। अब हम अपने साहित्य से कुछ उदाहरण देते हैं, जहाँ सरकार को प्रबन्धकारिणी समिति बताया गया है।

"अब चुनावों के द्वारा पूँजीपतियों को इस बात की औपचारिक "इजाज़त" मिल चुकी है कि उनकी "मैनेजिंग कमेटी" (सरकार) अगले पाँच वर्षों तक लोगों की रोज़ी-रोटी और जीने तक के अधिकार पर लगातार हमले बोलती रहे।" *('एक युद्ध देश के भीतर! जनता के ख़िलाफ़!' दायित्वबोध, वर्ष 6, अंक 3, अक्तूबर-दिसम्बर, 1999)*

"पर इसके पहले ज़रा यह देखें कि किस तरह इस देश की "चुनी हुई" सरकार आज पूँजीपतियों की "मैनेजिंग कमेटी" की भूमिका एकदम खुलेआम निभा रही है और अब यह बात अधिक दबी-ढंकी नहीं रह गयी है कि असली फैसले वास्तव में मन्त्रिमण्डलीय बैठकों में या संसद में नहीं बल्कि पूँजीपतियों के सभागृहों और मन्त्रणा-कक्षों में लिये जाते हैं।" *(वही)*

"संसद बस बहसबाज़ी का अड्डा है, दिखाने के दाँत हैं, सुअरबाड़ा है। सरकार पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी है।" *(हमारे जनसंगठनों द्वारा वितरित किया जाने वाला 'लोक स्वराज्य अभियान' का पर्चा, पेज-3)*

और साथ ही हम यह भी बता दें कि मार्क्स ने राज्य को भी एक स्थान पर शासक वर्ग की प्रबन्धकारिणी समिति कहा है। हालाँकि यह सूत्रीकरण ग़लत नहीं है, विशेषकर प्रचारात्मक मकसदों से, लेकिन ज़्यादा सही सूत्रीकरण यही है कि सरकार को प्रबन्धकारिणी समिति कहा जाय। और 'कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणापत्र' में एक स्थान पर राज्य की कार्यकारिणी को शासक वर्ग की प्रबन्धकारिणी समिति कहने के अलावा, उन्होंने हर स्थान पर सरकार को ही प्रबन्धकारिणी समिति कहा है। हम इस उद्धरण को आगे आपके सामने रखेंगे, लेकिन उसके पहले राज्य के तीन निकायों के बारे में बात कर ली जाय। जब हम बुर्जुआ राज्यसत्ता की बात करते हैं तो हम उसके तीन निकायों की बात कर रहे होते हैं: (1) कार्यकारिणी या कार्यकारी मंडल (जिसमें नौकरशाही, पुलिस, फौज, सशस्त्र बल, आदि शामिल हैं) यही हिस्सा राज्य का स्थायी निकाय और बल का उपकरण है, और इसीलिए इसे मार्क्सवादी साहित्य में राज्य का सबसे अहम हिस्सा माना गया है, (2) विधायिका या विधायक मण्डल (जिसमें केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकारें, स्थानीय सरकारें, आदि शामिल हैं), यह वास्तव में बुर्जुआ वर्ग के वर्चस्व को जनसमुदायों के बीच स्थापित करने का काम करता है और इस भ्रम को बरकरार रखने का काम करता है कि पूँजीवादी जनतन्त्र वास्तव में पूँजीपति वर्ग की तानाशाही नहीं है, बल्कि एक जनतान्त्रिक रूप से जनता की सामूहिक इच्छा का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था है; ग्राम्शी ने इसी बात को अपने वर्चस्व (हेजेमनी) के सिद्धान्त से समझाया है; और (3) न्यायपालिका, यह पूँजीवादी जनतन्त्र के भीतर अन्तरविरोधों, विवादों और विरोधाभासों के उपस्थित होने की सूरत में बुर्जुआ वर्ग के पक्ष में इस तरीके से निर्णय करने का कार्य करता है, मानो वह वर्ग-निरपेक्ष संस्था हो और सर्वोपरि, प्राकृतिक न्याय का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था हो, लेकिन सभी जानते हैं कि बुर्जुआ प्राकृतिक न्याय का क्या अर्थ है, और इसके बारे में एंगेल्स ने 'समाजवाद: काल्पनिक और वैज्ञानिक' के शुरुआती हिस्से में बहुत अच्छी तरह से समझाया है। मार्क्सवादी साहित्य में कई बार राज्य को सरकार के अर्थों में इस्तेमाल किया गया है, जब सिर्फ़ इसके विधायिका के हिस्से को चिन्हित किया जा रहा होता है। और पॉपुलर मार्क्सवादी राजनीतिक साहित्य में ऐसे अनगिनत अवसर आपको मिल जायेंगे जब राज्य को प्रबन्धकारिणी समिति कहा गया है। अगर आप देखना चाहते हैं तो कभी इण्टरनेट पर यह सर्चवर्ड डाल कर सर्च करें और सारे सन्दर्भ आपके सामने आज जायेंगे: "state as the managing committee of ruling class"।

ग़ौर करने की बात यह है कि यह ग़लत नहीं है, लेकिन राजनीतिक अर्थशास्त्र और सर्वहारा रणनीति और आम रणकौशल की चर्चा करते समय ज़्यादा सटीक सूत्रीकरण यह है कि राज्य (विशेष तौर पर कार्यकारिणी या कार्यकारी मण्डल को चिन्हित करने के सन्दर्भों में) को स्थायी निकाय कहा जाय और सरकार को प्रबन्धकारिणी समिति। लेकिन अगर किसी व्यक्ति का दिमाग चुनौटी के बराबर हो, और ऊपर से वह मूर्खतापूर्ण फार्मुलेबाज़ी करने वाला किताबी व्यक्ति हो तो उसका दिमाग़ इसी सवाल पर अटक सकता है, जैसा कि श्यामसुन्दर का अटक गया है। अब मार्क्स के इस उद्धरण पर ग़ौर करें:

"आधुनिक राज्य का कार्यकारी मण्डल पूरे पूँजीपति वर्ग के सम्मिलित हितों का प्रबन्ध करने वाली कमेटी के अलावा और कुछ नहीं है।" *(मार्क्स, कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र, प्रगति प्रकाशन, मास्को, पृ. 38)*

हम इस उद्धरण को यहाँ अंग्रेज़ी में भी दे दे रहे हैं, ताकि बाद में श्यामसुन्दर भुनभुनायें नहीं:

"The executive of the modern state is but a committee for managing the common affairs of the whole bourgeoisie." (Marx, Manifesto of the Communist Party, Collected in 'A World to Win', Left Word Books, 1999, p.91)

इसलिए यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि जिस आधार पर श्यामसुन्दर हमारे संगठन पर गालियों की बौछार करते हुए उसके मार्क्सवाद को "मनमाना और मनगढ़ंत" बता रहे हैं, वह आधार ही निहायत मूर्खतापूर्ण सोच पर आधारित है, जो वास्तव में राज्यसत्ता के पूरे मार्क्सवादी सिद्धान्त को समझती ही नहीं है। लेकिन श्यामसुन्दर के दिमाग़ के काम करने का यह तरीका स्वाभाविक ही है, क्योंकि चुनौटी में आम नहीं समा सकता!

हम उम्मीद करते हैं कि चुनावों में हिस्सेदारी, राज्यसत्ता और उनके प्रबन्धकारी समिति या स्थायी कार्यकारिणी होने के प्रश्न पर उपरोक्त उद्धरणों और उदाहरणों से हमारी बात स्पष्ट हो जाती है। और साथ ही हमें उम्मीद है कि इससे श्यामसुन्दर की मूर्खता, झूठ, कुतर्क और लफ्फ़ज़ियाँ भी बेनकाब हो जाती हैं। अब श्यामसुन्दर के मूर्खतापूर्ण पुलिन्दे के आख़िरी हिस्से की तरफ़ बढ़ते हैं।

नयी समाजवादी क्रान्ति, नयी जनवादी क्रान्ति और श्यामसुन्दर की बुद्धिहीन फार्मुलेबाज़ी

साथियो, इससे पहले की मूल मुद्दे पर बात शुरू करें, कुछेक बिन्दुओं की तरफ़ हम आपका ध्यान खींचना चाहेंगे। नयी समाजवादी क्रान्ति का सिद्धान्त न तो पहले बहस का मूल मुद्दा था और न ही कलायत बहस के दौरान यह बहस का मूल मुद्दा था। लेकिन श्यामसुन्दर ने अपने नये पेपर में हमारे इस सिद्धान्त की एक मूर्खतापूर्ण अधकचरी आलोचना (!) रखने का प्रयास किया है, जिसकी आगे तार-तार करके समीक्षा हम करेंगे। लेकिन ऐसा श्यामसुन्दर ने अभी क्यों किया है, इसके कुछ कारण हैं। जैसा कि हमने पहले ज़िक्र किया है, श्यामसुन्दर अपने राजनीतिक अस्तित्व को बचाये रखने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक करने में लगे हुए हैं। तर्क और दलीलें तो उनकी कलायत बहस में ही पिट चुकी थीं, इसलिए इस पेपर में उन्होंने कोई भी नयी बात कहने की बजाय अपने सभी पुराने तर्कों को फिर से घिस मारा है। इसलिए अगर हम श्यामसुन्दर के पेपर के जवाब में सिर्फ़ इतना भी कह देते कि हमारे द्वारा 'प्रैक्सिस कलेक्टिव' की तरफ़ से पेश किये गये पेपर को ही श्यामसुन्दर दोबारा पढ़ लें, कलायत बहस के वीडियो को ठीक से देख-सुन लें और वह उसी को हमारा जवाब मान

सकते हैं, तो हमारी बात पूर्ण होती। श्यामसुन्दर ने कलायत बहस के कुछ समय बाद ही अपने कार्यकर्ताओं की बैठक बुलाकर 'डैमेज कण्ट्रोल' करने की कोशिश की और उसके दो महीने बाद यह मूर्खतापूर्ण पेपर लिखा। **हम इसका जवाब महज़ इसलिए दे रहे हैं कि जो भी राजनीतिक तौर पर गम्भीरता से सोचने वाले व्यक्ति हैं, वे श्यामसुन्दर के राजनीतिक दीवालियापन और अधकचरेपन पर विचार करें और सोचें कि श्यामसुन्दर की लाइन (अगर उसे वाकई लाइन कहा जा सकता हो तो) उन्हें कहाँ ले जायेगी? इस पेपर में हमने हरेक सवाल पर काफ़ी विस्तार से अपनी बातें इसीलिए रखी हैं कि जो भी ईमानदार और विचारशील राजनीतिक कार्यकर्ता साथी हैं, वह इन सवालों पर स्पष्टता के साथ सोच सकें और फैसला ले सकें। इसलिए, यह जवाब वास्तव में श्यामसुन्दर को कुछ समझाने के लिए नहीं दिया जा रहा है, क्योंकि पत्थर के सामने खड़े होकर चीखने से कुछ भी नहीं होता। हम संजीदा, ईमानदार, युवा राजनीतिक कार्यकर्ताओं के लिए यह पेपर लिख रहे हैं, हालाँकि 'प्रैक्सिस कलेक्टिव, नरवाना-कलायत' के हमारे साथियों का स्पष्ट मत था कि इस पेपर का जवाब देने की कोई आवश्यकता नहीं है।**

अब मूल मुद्दे पर आते हैं।

नयी समाजवादी क्रान्ति के सवाल पर श्यामसुन्दर ने सबसे पहले राज्य और क्रान्ति की *अपनी* "समझदारी" का वही पुराना राग अलापा है और फिर हमसे पूछा है कि हम नयी समाजवादी क्रान्ति शब्द का इस्तेमाल क्यों कर रहे हैं? वह कहते हैं कि लेनिन के अनुसार क्रान्ति उस वर्ग के ख़िलाफ़ होगी जो कि सत्ता में है और इसी से क्रान्ति का चरित्र तय होगा। हम 1950 के दशक के उत्तरार्द्ध से भारत में क्रान्ति की मंज़िल और उसके चरित्र-निर्धारण की बात करते हैं, क्योंकि उसके पहले श्यामसुन्दर के दिमाग़ में सब चीज़ें गड्डमड्ड हैं, और वह हमारे बीच विवाद का विषय है। लेकिन इसमें कोई विवाद नहीं है कि 1950 के दशक के उत्तरार्द्ध से स्पष्टत: समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल थी। अब आते हैं क्रान्ति के चरित्र निर्धारण के प्रश्न पर। निश्चित तौर पर, भारत की क्रान्ति एक पूँजीवाद-विरोधी समाजवादी क्रान्ति तो है ही, और इसमें कोई शक़ की बात नहीं है। लेकिन विवाद इस बात पर है कि हम इसमें 'नयी' शब्द क्यों जोड़ते हैं। इसका सकारात्मक उत्तर हम आगे देंगे लेकिन उससे पहले हम एक पहलू पर चर्चा करना चाहेंगे और एक तुलनात्मक अध्ययन करेंगे, जिसको महज़ छूकर श्यामसुन्दर अपने पेपर में भाग खड़े हुए हैं?

आइये एक सवाल अपने सामने रखते हैं। माओ ने चीन में क्रान्ति की मंज़िल को नयी जनवादी क्रान्ति क्यों कहा था? पहले दो किस्म की जनवादी क्रान्तियों का ज़िक्र राजनीतिक साहित्य में मौजूद है। एक, जो कि बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में सम्पन्न होगी और इसलिए बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति होगी; इसमें चार वर्गों का मोर्चा होगा जो सामन्तवाद के विरुद्ध पूँजीपति वर्ग, किसान वर्ग, मध्यवर्ग और मज़दूर वर्ग को गोलबन्द करेगा। दूसरा, जो कि मज़दूर वर्ग और किसानों के नेतृत्व में सम्पन्न होगा, और नेतृत्व में सर्वहारा वर्ग की पार्टी के साथ रैडिकल बुर्जुआ वर्ग की हिस्सेदारी होगी (चाहे वह छोटा हो या बड़ा); इस प्रकार की जनवादी क्रान्ति में सामन्तवाद-विरोधी चार वर्गों का ही मोर्चा बनेगा जिसमें सर्वहारा वर्ग, पूँजीपति वर्ग, किसान वर्ग और मध्यम वर्ग शामिल होंगे। (अभी हम यहाँ उपनिवेशों की राष्ट्रीय जनवादी क्रान्तियों का अलग से ज़िक्र नहीं कर रहे हैं क्योंकि वे वास्तव में जनता की जनवादी क्रान्तियाँ ही हैं, लेकिन वहाँ वे सामन्तवाद-विरोधी साम्राज्यवाद-विरोधी क्रान्तियों के रूप में सम्पन्न होती हैं)

माओ ने तीसरे किस्म की जनवादी क्रान्ति की बात की: नव जनवादी क्रान्ति। श्यामसुन्दर ने अपने पेपर में एकदम स्पष्ट रूप में अपनी यह अज्ञानता और मूढ़ता प्रदर्शित कर दी है कि उन्हें जनता की जनवादी क्रान्ति और नयी जनवादी क्रान्ति के बीच का फर्क पता नहीं है। देखिये कि श्यामसुन्दर यह मूर्खता का नमूना किन शब्दों में पेश करते हैं: "लेनिन की इन्हीं शिक्षाओं को आगे चलकर माओ त्से-तुंग ने बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के कार्यक्रमों को जनता की जनवादी क्रान्ति अथवा

नवजनवादी क्रान्ति के कार्यक्रमों में विकसित किया था *(श्यामसुन्दर की अजीबो-ग़रीब हिन्दी पर ध्यान न दें, यह उनके विचित्र रूप से अल्पविकसित चिन्तन पद्धति का नतीजा है–लेखक)* उसका एकमात्र तात्पर्य यह था कि साम्राज्यवादियों-सामन्तवादियों से सहयोग और समझौता रखकर चलने वाले बुर्जुआ वर्ग के हाथों में सत्ता के जाने को रोका जाये तथा सत्ता मज़दूरों-किसानों एवं समझौताहीन संघर्ष करने वाली शक्तियों के हाथों में ही जाए। सारतत्व में नवजनवादी क्रान्ति के इसी सिद्धान्त का पालन और मार्गदर्शन भगतसिंह के द्वारा हमारे देश में हुआ।" कुढ़मगज़ी की हद है! स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि श्यामसुन्दर को नवजनवादी क्रान्ति के बारे में कुछ नहीं पता है और वह जनता की जनवादी क्रान्ति से नवजनवादी क्रान्ति का फर्क भी नहीं समझते, ठीक उसी प्रकार जैसे कि वह समाजवादी क्रान्ति और नयी समाजवादी क्रान्ति के बीच का फर्क नहीं समझते और हमसे पूछते हैं कि 'नयी' विशेषण क्यों जोड़ा? लेकिन फिर उन्हें माओ की भी आलोचना करनी चाहिए कि अगर जनता की जनवादी क्रान्ति और नवजनवादी क्रान्ति में कोई फर्क नहीं था, तो उन्होंने 'नव' विशेषण क्यों जोड़ा? लेकिन इस अन्तरविरोध की क्या बात करें, श्यामसुन्दर की पूरी चिन्तन प्रणाली ही मज़ाकिया अन्तरविरोधों से भरी हुई है। ऊपर के उद्धरण में मौजूद सारे चुटकुले अभी ख़त्म नहीं हुए हैं! श्यामसुन्दर कहते हैं कि नवजनवादी या जनता की जनवादी क्रान्ति के कार्यक्रमों का विकास इसलिए किया गया था क्योंकि समझौता-परस्त बुर्जुआ वर्ग को सत्ता में आने से रोका जा सके! श्यामसुन्दर की इन बातों को सन्ता-बन्ता डॉट कॉम पर भी डाला जा सकता है। नवजनवादी क्रान्ति समझौतापरस्त या दलाल पूँजीपति वर्ग को सत्ता में आने से रोकने की बात नहीं करती; नवजनवादी क्रान्ति होती ही तब है जब साम्राज्यवाद का दलाल पूँजीपति वर्ग सत्ता में विराजमान होता है! लेकिन श्यामसुन्दर ने यह बात पढ़ी ही नहीं होगी, और अपने पेपर में धड़ल्ले से गप्प हाँक दी। ऐसे ढपोरशंखी "क्रान्तिकारी चिन्तकों" ने भी भारत में क्रान्ति का काफ़ी बेड़ा गर्क किया है। बिना पढ़े, बिना जाने ये लोग पूरे कॉन्फीडेंस से मूर्खतापूर्ण बात करते हैं और लफ्फाज़ियाँ करते हैं। इसके बाद मूर्खतापूर्ण हवाई चिन्तन के एवरेस्ट पर वह तब पहुँच जाते हैं, जब यह दावा करते हैं भगतसिंह नवजनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम पर अमल कर रहे थे। इसका खण्डन करना असम्भव है क्योंकि चुटकुलों का खण्डन नहीं किया जा सकता है। ख़ैर, श्यामसुन्दर इन तर्कों की जलेबी पारने के बाद उसमें खुद ही फँस जाते हैं। जैसा कि हमने पहले भी कहा, वह माओ से यह पूछने की जुर्रत नहीं करते कि उन्होंने जनवादी क्रान्ति में 'नयी' विशेषण क्यों जोड़ा? इसका एक कारण है।

वास्तव में, अगर श्यामसुन्दर अपने प्रच्छन्न त्रात्स्कीपंथ को खुला कर दें, तो स्थिति एकदम तार्किक नज़र आयेगी। त्रात्स्कीपंथी माओ की इसी बात के लिए आलोचना करते हैं कि उन्होंने जनवादी क्रान्ति में 'नयी' विशेषण क्यों जोड़ा? एक तो उन्हें यह पसन्द नहीं आता कि माओ लेनिन के दो चरणों में क्रान्ति के सिद्धान्त को स्वीकार कर रहे हैं, ऊपर से वह जनवादी क्रान्ति में 'नयी' विशेषण भी जोड़ रहे हैं। कुछ त्रात्स्कीपंथी यह साबित करने की कोशिश भी करते हैं कि चीन में 1949 में जो क्रान्ति हुई वह त्रात्स्की वाली 'स्थायी क्रान्ति' ही थी जो 'अबाधित' तौर पर समाजवाद तक पहुँच गयी! त्रात्स्कीपंथियों की एब्सर्डिटी को छोड़कर श्यामसुन्दर की एब्सर्डिटी पर ही बात करते हैं, क्योंकि एक साथ कई किस्म की एब्सर्डिटी पर बात करना सम्भव नहीं है!

पुराने सवाल पर वापस लौटते हुए हम स्पष्ट करना चाहेंगे कि माओ ने जनवादी क्रान्ति के आगे किन परिस्थितियों में 'नयी' विशेषण जोड़ा। जनवादी क्रान्ति में 'नयी' विशेषण जोड़ने का अर्थ यह नहीं था कि क्रान्ति के वर्ग-चरित्र में कोई परिवर्तन आ गया था, जैसा कि श्यामसुन्दर समझते हैं। चीन में जो परिस्थितियाँ अद्वितीय थीं, वे इस प्रकार थीं: पहली बात, अर्द्धसामन्ती अर्द्धऔपनिवेशिक सामाजिक संरचना के रूप में एक भिन्न प्रकार की सामाजिक संरचना का अस्तित्व में आना, क्योंकि चीन कभी पूर्ण और प्रत्यक्ष उपनिवेश नहीं बना; दूसरी बात, साम्राज्यवाद के दलाल, एजेण्ट, या टट्टू के तौर पर एक दलाल पूँजीपति वर्ग का देश में प्रत्यक्ष शासन पर कब्ज़ा होना (न कि कब्ज़ा करने से रोकने के लिए नवजनवादी क्रान्ति का सिद्धान्त दिया गया जैसा कि श्यामसुन्दर महोदय समझते हैं!)। यह पूँजीपति वर्ग बड़ा नौकरशाह वाणिज्यिक पूँजीपति वर्ग था,

और इसका औद्योगिक चरित्र नहीं था। कारण यह कि औद्योगिक पूँजीपति वर्ग कभी दलाल नहीं होता क्योंकि उसे बाज़ार चाहिए होता है, घरेलू भी और विदेशी भी। इस प्रकार चीन में पूँजीपति वर्ग दो हिस्सों में विभाजित हो गया: बड़ा नौकरशाह वाणिज्यिक दलाल पूँजीपति वर्ग और छोटा राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग जिसकी औद्योगिक आकांक्षाएँ थीं, जिसे दलाल पूँजीपति वर्ग ने साम्राज्यवाद की शह पर कुचल रखा था। यहाँ ग़ौर करें कि श्यामसुन्दर को यह भी समझ में नहीं आता है कि रूस का समझौतापरस्त पूँजीपति वर्ग और चीन का दलाल पूँजीपति वर्ग बिल्कुल अलग हैं। रूस का समझौतापरस्त पूँजीपति वर्ग औद्योगिक पूँजीपति वर्ग था, वाणिज्यिक व नौकरशाह पूँजीपति वर्ग नहीं! दूसरा फर्क यह है कि वह एक पिछड़ी कतार के साम्राज्यवादी देश का पूँजीपति वर्ग था न कि स्वयं साम्राज्यवादी शोषण के शिकार किसी अर्द्धऔपनिवेशिक देश का पूँजीपति वर्ग। निश्चित तौर पर, रूस को लेनिन ने ब्रिटेन-फ्रांस नामक विशाल साम्राज्यवादी फर्म की शाखा कहा था। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं था कि रूस एक अर्द्धऔपनिवेशिक अर्द्धसामन्ती देश था। इसका अर्थ सिर्फ इतना है कि साम्राज्यवाद एक विश्व व्यवस्था होती है और इसमें विभिन्न साम्राज्यवादी ताक़तों का एक पूरा पदानुक्रम होता है। पिछड़ी साम्राज्यवादी ताक़तें उन्नत साम्राज्यवादी ताक़तों के पिछलग्गू के रूप में व्यवहार करती हैं। आज के दुनिया की मिसाल लें। आज भी ब्रिटेन को वॉशिंगटन कंसेंसस का हिस्सा और अमेरिका का दुमछल्ला माना जाता है। लेकिन यह साम्राज्यवादी देशों के आपसी सम्बन्धों में हमेशा ही होता है, इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं है। जिस प्रकार ब्रिटेन और फ्रांस के दबाव में रूस प्रथम विश्व युद्ध से अलग नहीं हो सका था, वैसे ही ब्रिटेन अमेरिकी दबाव में इराक़ और अफगानिस्तान से अपने सैनिकों को वापस नहीं बुला सकता है। लेकिन श्यामसुन्दर जैसा राजनीतिक रूप से बाधित और कुण्ठित विकास का शिकार कोई व्यक्ति ही कह सकता है कि ब्रिटेन अमेरिका का अर्द्धउपनिवेश है! जाहिर है, श्यामसुन्दर को दलाल पूँजीपति वर्ग के चरित्र की कोई समझ नहीं है क्योंकि उन्होंने माओ को पढ़ा ही नहीं है, और अपने पेपर में यूँ ही ढींग हाँक दी है। तीसरी बात, जिसके चलते माओ ने जनवादी क्रान्ति में 'नयी' विशेषण जोड़ा, वह था क्रान्ति के पथ का प्रश्न, यानी कि माओ द्वारा दीर्घकालिक लोकयुद्ध का सिद्धान्त दिया जाना। इसके पहले की किसी भी किस्म की जनवादी क्रान्ति के दौरान इस प्रकार के क्रान्ति के पथ की बात नहीं की गयी थी। चीन में नवजनवादी क्रान्ति होने के बाद कई देशों के राष्ट्रीय जनवादी मुक्ति युद्धों में कम्युनिस्ट और रैडिकल बुर्जुआ ताक़तों ने इस पथ को अपनाया और अनेक जगहों पर सफलता भी पायी। चौथा फर्क यह था कि नवजनवादी क्रान्ति का नेतृत्व सर्वहारा वर्ग और रैडिकल बुर्जुआ ताक़तों के बीच साझा नहीं हो रहा था, यह पूरी तरह सर्वहारा वर्ग के हाथ में था। माओ ने इसे अपने इस उद्धरण में साफ कर दिया था: "सर्वहारा वर्ग चीनी क्रान्ति की नेतृत्वकारी शक्ति है, जबकि किसान वर्ग चीनी क्रान्ति की मुख्य शक्ति हैं।" नेतृत्व के कम्पोज़ीशन में अलग-अलग किस्म की जनवादी क्रान्तियों में फर्क मौजूद है, यह आप ऊपर के विवरण से समझ सकते हैं। क्रान्ति के विरोधी वर्गों के संघटन में भी कोई बहुत बुनियादी अन्तर नहीं आता है। जाहिर है, कि इन चार नयी बातों से, जिसके कारण माओ ने 'नयी' विशेषण को जोड़ा था, क्रान्ति के लिए वर्गों के मोर्चे में कोई बुनियादी फर्क नहीं पड़ता है। अगर श्यामसुन्दर के विचित्र सिद्धान्त से चलें तो बिना वर्ग मोर्चे के चरित्र में कोई बुनियादी फर्क आये माओ द्वारा जनवादी क्रान्ति में 'नयी' विशेषण जोड़ा जाना ग़लत था, क्योंकि इसी दिमाग़ी तौर पर अन्धे सिद्धान्त के प्रभाव में श्यामसुन्दर ने हमारे द्वारा समाजवादी क्रान्ति में 'नयी' विशेषण जोड़ने पर आपत्ति उठायी है। नवजनवादी क्रान्ति साम्राज्यवाद-सामन्तवाद विरोधी क्रान्ति थी जिसमें देशी दलाल बड़े नौकरशाह पूँजीपति वर्ग, सामन्त वर्ग और साम्राज्यवाद के विरुद्ध चार वर्गों, यानी कि राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग, सर्वहारा वर्ग, किसान वर्ग और मध्यम वर्ग, का मोर्चा बनाया गया। श्यामसुन्दर के अनुसार, नयी जनवादी क्रान्ति में भी कुछ नया नहीं होना चाहिए। लेकिन, पर्याप्त मूर्ख होने के बावजूद श्यामसुन्दर इतनी बात समझते हैं कि कार्यकर्ताओं के सामने माओ के क्रान्तिकारी प्राधिकार पर सवाल खड़ा करने से वह उपहास का पात्र बन जायेंगे। इसीलिए, इस विषय पर कुछ निहायत बेवकूफी भरी प्रस्थापनाएँ देने के बाद (जिसका हम ऊपर ज़िक्र कर आये हैं) श्यामसुन्दर जल्दी से इस मुद्दे से कन्नी काट लेते हैं। अब हम सकारात्मक तौर पर अपनी बात रखते हैं कि नयी समाजवादी क्रान्ति में नया क्या है।

नयी समाजवादी क्रान्ति में नया क्या है?

पहली बात, अतीत से अलग पहली बार समाजवादी क्रान्तियाँ अब उन देशों में अपेक्षित हैं जहाँ पर उत्तर-औपनिवेशिक पिछड़े हुए पूँजीवाद की विशिष्ट किस्में मौजूद हैं। इन देशों में राजनीतिक रूप से स्वतन्त्र एक बुर्जुआ वर्ग सत्ता में आया है, लेकिन न तो यह 'राष्ट्रीय' है (क्योंकि इसका जनता के साथ कोई साझा आर्थिक या राजनीतिक हित नहीं है, लेकिन श्यामसुन्दर को राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग की यह परिभाषा पता ही नहीं है), न ही 'दलाल' है (क्योंकि यह औद्योगिक पूँजीपति वर्ग है, नौकरशाह वाणिज्यिक पूँजीपति वर्ग नहीं; इसे अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता हर कीमत पर प्यारी है) और न ही 'साम्राज्यवादी' (क्योंकि भारत के कुल पूँजी निर्यात से उसका पूँजी आयात कहीं ज़्यादा है, और इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि वह एशिया और अफ्रीका के कुछ देशों के लिए वह एक क्षेत्रीय साम्राज्यवादी शक्ति जैसा बर्ताव करता है, क्योंकि अन्ततः पूँजी के कुल आयात और कुल निर्यात के अनुपात से ही किसी बुर्जुआजी के साम्राज्यवादी होने या न होने का फैसला हो सकता है)। यह साम्राज्यवाद का 'जूनियर पार्टनर' है क्योंकि 200 वर्ष की गुलामी और बाधित विकास के कारण आज़ादी के बाद उसके पास इतनी संचित पूँजी नहीं थी कि वह पूर्ण रूप से अपने बूते पर आर्थिक विकास कर सके। इसलिए राजनीतिक तौर पर स्वतन्त्र होने के बावजूद पूँजी और तकनोलॉजी के लिए साम्राज्यवाद पर (किसी एक साम्राज्यवादी देश पर नहीं, बल्कि अलग-अलग साम्राज्यवादी देशों के बीच अपने राजनीतिक हितों के अनुसार मोलभाव करते हुए) उसकी निर्भरता बनी रही। इसी को हम एक पंक्ति के सूत्रीकरण में कहते हैं 'राजनीतिक तौर पर स्वतन्त्र लेकिन आर्थिक तौर पर निर्भर'। लेकिन वह अपनी इस निर्भरता को कम करने के लिए लगातार प्रयासरत रहता है, जिसे कि आज़ादी के बाद की इसकी नीतियों में देखा जा सकता है, जैसे कि बैंकों और रेलवे का राष्ट्रीयकरण, आयात प्रतिस्थापन की नीतियों को लागू करना, आदि। लेकिन भूमण्डलीकरण के मौजूदा दौर में सभी देशों में बुर्जुआ वर्ग की राजनीतिक सम्प्रभुता का रूप बदला है। भारतीय पूँजीपति वर्ग ने पिछले 64 वर्षों में विचारणीय आर्थिक विकास कर लिया है, और अब भूमण्डलीकरण के दौर में जब पूँजी का प्रवाह राष्ट्रीय सीमाओं के पार बेधड़क हो रहा है, साम्राज्यवाद पहले हमेशा से ज़्यादा सट्टेबाज़ और जुआरी हो चुका है, अनुत्पादक पूँजी का हिस्सा कुल पूँजी में 90 प्रतिशत के ऊपर जा चुका है और उत्पादक निवेश की सम्भावनाएँ पूँजी और उत्पादन की प्रचुरता के दौर में जब समाप्त हो चुकी हैं, और जब वित्तीय पूँजी तरह-तरह के डाकेजनी के उपकरण निकालकर तत्काल मुनाफ़ा कमा लेने के फेर में एक के बाद एक वित्तीय बुलबुलों को जन्म दे रही है, तो किसी भी किस्म के आर्थिक संरक्षणवाद की कोई ज़रूरत नहीं है। अगर भारतीय पूँजीपति वर्ग को भी भूमण्डलीकरण के इस दौर में अपने मुनाफ़े को बरकरार रखना है तो उसे अधिक से अधिक खुले तौर पर 'जूनियर पार्टनर' की भूमिका में आना होगा, और वह आ भी रहा है, जिसे कई बार नवजनवादी क्रान्ति वाले उसके दलाल होने का प्रमाण समझ बैठते हैं। लेकिन यहाँ चर्चा उनकी ग़लती की नहीं बल्कि श्यामसुन्दर की मूर्खता की हो रही है, इसलिए हम उसी पर वापस लौटते हैं। इसलिए पहली बात तो यह कि पहली बार उत्तर-औपनिवेशिक पिछड़े समाजों में समाजवादी क्रान्तियाँ अपेक्षित हैं, जिसके कारण इसकी कई भिन्न आभिलाक्षणिकताएँ पैदा होती हैं।

दूसरी बात, चूँकि भारतीय पूँजीपति वर्ग ने साम्राज्यवाद के प्रत्यक्ष शोषण को ख़त्म नहीं किया बल्कि आज़ादी के बाद और ख़ास तौर पर 1980 के दशक के ख़ात्मे के बाद, जब हर प्रकार का संरक्षणवाद धीरे-धीरे ख़त्म किया जाने लगा और भूमण्डलीकरण की नवउदारवादी नीतियों को लागू करना शुरू कर दिया गया, उसने साम्राज्यवाद का जूनियर पार्टनर बनकर देश की ग़रीब जनता को लूट का खुला चरागाह बना दिया, और इस लूट में उसे अपना हिस्सा भी मिला। इसलिए, वैसे तो हर पूँजीवाद-विरोधी क्रान्ति ऐतिहासिक तौर पर साम्राज्यवाद-विरोधी भी होती ही है, लेकिन 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यूरोप के

देशों में अपेक्षित समाजवादी क्रान्तियों और रूस की समाजवादी क्रान्ति के लिए साम्राज्यवाद-विरोध एक तात्कालिक प्रश्न नहीं था, क्योंकि ये क्रान्तियाँ स्वयं साम्राज्यवादी देशों में अपेक्षित थीं। लेकिन आज की समाजवादी क्रान्तियों के लिए, जो कि राष्ट्रीय और जनवादी प्रश्न के हल होने के बाद दुनिया के उत्तर-औपनिवेशिक पिछड़े पूँजीवादी देशों में अपेक्षित हैं, साम्राज्यवाद-विरोध एक तात्कालिक प्रश्न है क्योंकि ये देश कोई साम्राज्यवादी देश नहीं हैं, बल्कि यहाँ की ग़रीब जनता स्वयं प्रत्यक्ष साम्राज्यवादी शोषण का शिकार है। इतनी सी बात को समझने के लिए पाँचवीं पास होने भर का दिमाग़ होना काफ़ी है, लेकिन अगर श्यामसुन्दर इसे नहीं समझ पा रहे हैं तो हमें कोई ताज्जुब भी नहीं है।

तीसरी बात, पहले की समाजवादी क्रान्तियाँ पहले दौर की समाजवादी क्रान्तियाँ थीं। उस समय बुर्जुआ वर्ग अपनी सत्ता को सुदृढ़ करने की प्रक्रिया में ही था जब सर्वहारा वर्ग ने अपने पहले क्रान्तिकारी प्रयोग किये थे। इस समय बुर्जुआ वर्ग की राज्यसत्ता समाज के पोर-पोर में उस प्रकार नहीं समायी हुई थी जैसे कि आज समायी हुई है। लेनिन ने स्पष्ट बताया था कि रूस में किस प्रकार बुर्जुआ वर्ग की सत्ता समाज से कटी हुई और ऊपर से लादे गये निकाय के समान मौजूद थी; उसका कोई व्यापक सामाजिक आधार मौजूद नहीं था। यही बात 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यूरोपीय देशों में अपेक्षित समाजवादी क्रान्तियों के बारे में कही जा सकती थी। आज बुर्जुआ सत्ता समाज से कटी हुई और बिना सामाजिक अवलम्बों के नहीं है। यह समाज के पोर-पोर में समायी हुई है। पंचायत, तहसील, ब्लॉक, जिला, प्रान्त से होते हुए राष्ट्रीय स्तर तक बुर्जुआ सत्ता के स्तम्भ मौजूद हैं; इन स्तम्भों का गाँव में धनी किसानों, ठेकेदारों और व्यापारियों से लेकर, शहरों में छोटे-बड़े उद्योगपतियों, ठेकेदारों, शेयर मार्केट के दलालों, पेशेवर उच्च मध्यम वर्ग और नेताओं-नौकरशाहों की जमात के रूप में व्यापक सामाजिक आधार मौजूद है। इन सभी वर्गों की पूरी आबादी कोई छोटी-मोटी नहीं बल्कि 20 से 25 करोड़ है, और वह भी पूँजी और शस्त्रों की ताक़त से लैस। आम बग़ावत के जरिये समाजवादी क्रान्ति हो जाने के बाद भी ये वर्ग क्रान्ति के विरुद्ध एक लम्बा गृहयुद्ध चलायेंगे। ऐसे में, महज़ आम बग़ावत के जरिये सत्ता के सभी निकायों को ठप्प कर क्रान्ति तक पहुँचने के क्रान्ति पथ के साथ हमें कुछ चीज़ें जोड़नी भी पड़ेंगी। मिसाल के तौर पर, सुधार कार्यों के जरिये व्यापक जनाधार खड़े करने होंगे, जनदुर्ग बनाने होंगे, आदि। यहाँ हम इस मुद्दे को और विस्तृत करके नहीं बता सकेंगे। लेकिन इतना स्पष्ट है कि क्रान्ति का पथ हूबहू वैसा नहीं होगा जैसा कि पहले की समाजवादी क्रान्तियों में लागू होता था।

चौथी बात, बुर्जुआ वर्ग की राज्यसत्ता के सामाजिक ढाँचे के साथ इस प्रकार के अन्तर्गुंथन के कारण ही कुछ और परिवर्तन भी आते हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण है समानान्तर दोहरी सत्ता, या जनता की सत्ता के निकाय/संस्था का प्रश्न। ग़ौरतलब है कि पहले दौर की समाजवादी क्रान्तियों के दौरान जनता की समानान्तर सत्ता का ढाँचा स्वत:स्फूर्त ढंग से खड़ा हुआ था, चाहे वे रूस की सोवियतें हों, या इटली की मज़दूर परिषदें। इनको बनाने में पार्टी की सचेतन तौर पर कोई विशेष भूमिका नहीं थी। ये बने-बनाये तौर पर पार्टी को मिलीं, जिन पर अपना राजनीतिक वर्चस्व कायम करने का काम बाद में इन पार्टियों ने किया। लेकिन आज की नयी समाजवादी क्रान्तियों में ऐसा नहीं होगा। आज की पंचायतें बुर्जुआ सत्ता का स्तम्भ हैं और उन्हें सोवियत का रूप नहीं दिया जा सकता। न ही हम स्वत:स्फूर्त रूप से ऐसी संस्थाओं के आने का इन्तज़ार कर सकते हैं। इस प्रयोग को अब पार्टी को सचेतन तौर पर खड़ा करना होगा। जनता की सत्ता के निकायों को पार्टी को सचेतन तौर पर निर्मित करना होगा। हमारा संगठन इन्हें 'लोक स्वराज्य पंचायतों' का नाम देता है, जो कि महज़ एक प्रस्ताव है, क्योंकि पार्टी कभी इस तरह के फैसले नहीं लेती वह प्रस्ताव देती है। इस पर फैसला लेना जनता का काम होता है। यह एक बहुत बड़ा फर्क है जिसके महत्व को हर वह व्यक्ति समझ सकता है जो रूसी क्रान्ति के होने में दोहरी सत्ता यानी सोवियतों का महत्व समझता हो। जाहिर है, हम यह उम्मीद श्यामसुन्दर से नहीं कर रहे हैं!

पाँचवी बात, हम पहले दौर की समाजवादी क्रान्तियों के होने और उसके बाद समाजवाद के रूस और चीन के गिरने के बाद से एक लम्बे विपर्यय और अन्धकार के दौर से गुज़र रहे हैं। यह दौर अब अपने ख़ात्मे की तरफ़ बढ़ रहा है। इस पूरे

दौर में साम्राज्यवाद और पूँजीवाद की कार्यप्रणालियों में कुछ बुनियादी बदलाव आये हैं (इस विषय में दिलचस्पी रखने वाले साथी हमारे कॉमरेडों से इस विषय पर गोरखपुर में हुई 'अरविन्द स्मृति संगोष्ठी' में पेश किये गये पेपर को प्राप्त करके पढ़ सकते हैं)। पिछले समाजवादी प्रयोगों के सकारात्मक-नकारात्मक अनुभव हमारे सामने हैं और उनके समाहार का काम काफ़ी हद तक किया जा चुका है, लेकिन जाहिर है कि हर वैज्ञानिक विश्लेषण की तरह इन विश्लेषणों को भी लगातार उन्नत करने की ज़रूरत है। अब जो समाजवादी क्रान्तियाँ अपेक्षित हैं, उनके टिकने की सम्भावना ज़्यादा है। ऐतिहासिक तौर पर देखें तो रूस और चीन व अन्य देशों में समाजवादी सत्ताओं का पतन बिल्कुल नैसर्गिक दिखता है; किसी भी वर्ग की विचारधारा के प्रयोग पहले चक्र में अन्ततः असफल ही हुए हैं, लेकिन इन असफलताओं से सीखकर ही अगले चक्र के प्रयोगों को स्थायी और टिकाऊ बनाया जा सकता है। 21वीं सदी फैसलाकुन क्रान्तियों की सदी होगी। समाजवादी क्रान्तियों के दूसरी चक्र में होने वाली इन समाजवादी क्रान्तियों में निरन्तरता का तत्व गौण है, और परिवर्तन का प्रधान। और हम ऊपर दिखा आये हैं कि 'नयी' विशेषण जोड़ने के लिए वर्ग मोर्चे या दुश्मन वर्गों के संघटन में कोई बुनियादी अन्तर आना कोई शर्त नहीं है, जैसा कि श्यामसुन्दर ने समझाने की कोशिश की है।

और भी कई कारण हैं जिन पर अलग से एक लम्बा पेपर लिखा जा सकता है, लेकिन जैसा कि हमने पहले कहा था, यह इस बहस का मूल मुद्दा नहीं है और श्यामसुन्दर इसे अपनी इज़्ज़त बचाने के चक्कर में जबरन बहस में खींच लायें हैं। इसलिए हम अभी इस पर पूरे विस्तार में नहीं जा रहे हैं। लेकिन इतना स्पष्ट है कि आज के दौर की समाजवादी क्रान्तियों में नूतन का पहलू प्रधान है और पुरातन का गौण और इसलिए इसे नयी समाजवादी क्रान्ति कहा जाना सैद्धान्तिक और विचारधारात्मक तौर पर न केवल बिल्कुल सही है, बल्कि ज़रूरी है।

अन्त में श्यामसुन्दर की कुछ अन्य टुच्ची मूर्खताएँ और बेईमानियाँ

अन्त में, श्यामसुन्दर ने बिना पढ़े और अध्ययन किये अपनी कुछ आश्चर्यजनक रूप से मूर्खतापूर्ण अवस्थितियों को फिर से दुहरा दिया है, जैसे कि भगतसिंह ने यह बात सी.पी.आई. के बारे में कही थी कि भारत के क्रान्तिकारी आन्दोलन का बौद्धिक पक्ष बेहद कमज़ोर है। देखिये कि भगतसिंह ने क्या कहा था: **"दुर्भाग्य से भारतीय क्रान्ति का बौद्धिक पक्ष हमेशा से दुर्बल रहा है, इसीलिये क्रान्ति की अत्यावश्यक चीज़ों और किये कामों के प्रभाव पर ध्यान नहीं दिया जाता रहा। इसलिए एक क्रान्तिकारी को अध्ययन-मनन को अपनी पवित्र ज़िम्मेदारी बना लेना चाहिए।"** *(भगतसिंह, क्रान्तिकारी कार्यक्रम का मसविदा, विचारों की सान पर, पृ. 95)* और एक जगह बौद्धिक और राजनीतिक पिछड़ेपन की बात भगतसिंह ने पंजाब के युवा आन्दोलन के बारे में कही है जो कि 'विचारों की सान पर' नामक भगतसिंह के संकलन में पृष्ठ संख्या 29 पर है, और नौजवान भारत सभा, लाहौर के घोषणापत्र का एक अंश है। लेकिन इन दोनों लेखों को पूरा पढ़ जाने के बाद भी आपको सी.पी.आई. का कोई ज़िक्र या अप्रत्यक्ष सन्दर्भ तक नहीं मिलेगा। लेकिन श्यामसुन्दर ने यह बात जबरन भगतसिंह पर थोप दी है। भगतसिंह की पूजा की नौटंकी करते हुए श्यामसुन्दर जैसे लोग बेहद निकृष्ट कोटि की ग़ैर-ज़िम्मेदाराना हरक़त कर रहे हैं। यह साबित करता है कि श्यामसुन्दर बौद्धिक तौर पर दीवालिया और मन्द्रविकास के शिकार तो हैं ही, साथ ही, वह अपनी "साख" और संगठन बचाने के चक्कर में अपनी बुद्धि भर बेईमानी, लफ्फाज़ी और झूठ-फरेब करने का भी काम कर रहे हैं।

श्यामसुन्दर ने एक जगह यह भी लिखा है कि किसी चरण में क्रान्ति के कार्यभार क्रमिक प्रक्रिया में पूरे नहीं हो सकते, वह किसी न किसी से क्रान्ति से ही पूरे हो सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि वह 15 अगस्त, 1947 को एक क्रान्ति मानते

हैं! तब तो उन्हें जनसंघर्ष मंच भंग करके कांग्रेस पार्टी में शामिल हो जाना चाहिए! जहाँ तक ग़ैर-क्रान्तिकारी रास्ते से क्रान्ति के कार्यभार पूरे होने का प्रश्न है तो हम उन्हें बिस्मार्क के जर्मनी के बारे में मार्क्स और एंगेल्स का, और रूस के बारे में लेनिन का लेखन पढ़ने की सलाह देंगे और दुआ करेंगे कि वह पढ़कर समझ भी लें। हम लेनिन को इस मामले में एक आख़िरी बार उद्धृत करेंगे हालाँकि श्यामसुन्दर की इस मूर्खता का हम काफी लम्बा जवाब ऊपर दे चुके हैं:

"1861 में रूस में भी एक रैडिकल परिवर्तन हुआ; परिणामतः समाज के एक रूप की जगह दूसरे रूप ने ले ली–सामन्तवाद की जगह पूँजीवाद ने ले ली, जिसके तहत वर्गों का बँटवारा बरकरार रहा, और साथ ही भूदासता के भी कुछ चिन्ह और अवशेष बाकी रहे, लेकिन बुनियादी तौर पर वर्गों के बँटवारे ने एक अलग रूप ग्रहण कर लिया।" *(लेनिन, राजसत्ता क्या है?)*

एक और उद्धरण देखें:

"और जब सामन्तवाद को चूर-चूर कर दिया गया, जो कि अट्ठारवीं सदी के अन्त और उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में हुआ–रूस में यह अन्य देशों से देर 1861 में हुआ–तो सामन्ती राज्य की जगह पूँजीवादी राज्य ने ले ली, जो अपने नारे के तौर पर सम्पूर्ण जनता की आज़ादी की घोषणा करता है, जो कहता है कि वह सम्पूर्ण जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व कर रहा है, और इस बात से इंकार करता है कि वह एक वर्ग राज्य है।" *(वही)*

यहाँ हम पाठकों को एंगेल्स के बिस्मार्क के बारे में ऊपर दिये गये उद्धरण पर ग़ौर करने के लिए कहेंगे, जिसके अनुसार निरंकुश राजतन्त्र इस प्रकार की राज्यसत्ताओं के रूप में अस्तित्व में आये जिसमें सामन्तों के साथ बुर्जुआ वर्ग की भी हिस्सेदारी थी। लेनिन ने भी इसे रूस के सन्दर्भ में दिखलाया था, जब उन्होंने कहा था कि फरवरी क्रान्ति महज़ एक औपचारिकता थी जिसमें राजतन्त्र की जगह पूँजीवादी जनतन्त्र ने ले ली; वास्तव में, बुनियादी स्तर पर पूरे देश में पूँजीपति वर्ग पहले ही सत्ता का प्रमुख भागीदार बन चुका था और पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध 1861 के बाद से ही मुख्य तौर पर स्थापित हो चुके थे। लेनिन के सम्बन्धित उद्धरण को हम ऊपर पेश कर चुके हैं। यहाँ पर, यह भी ध्यान देने की ज़रूरत है कि ऐसे राज्य में हमेशा दो वर्गों की भागीदारी नहीं बनी रह सकती और अन्ततः कोई एक वर्ग, आम तौर पर बुर्जुआ वर्ग, राज्य पर पूरा वर्चस्व स्थापित कर लेता है। यही ऊपर दिये गये उद्धरण में एंगेल्स ने भी कहा है।

एक अन्य जगह श्यामसुन्दर कहते हैं, "गत 22 जुलाई की बहस के दौरान मैंने अभिनव के सामने यक्ष प्रश्न के नाम से यह प्रश्न खड़ा किया था कि जब वे अपने लाल तारा-2, के खण्ड 2, पृष्ठ 9 पर सी.पी.आई. (एम) के नवजनवादी क्रान्ति के रणनीतिक नारे की आलोचना करते हुए लिखते हैं कि यदि भारत का शासक पूँजीपति वर्ग मुख्यतः "स्वतन्त्र है तो इसके विरुद्ध होने वाली क्रान्ति समाजवादी न होकर जनता की जनवादी क्रान्ति कैसे होगी।" तो फिर स्वतन्त्र पूँजीपति वर्ग की सत्ता स्थापित हो जाने के बाद वे खुद ये कैसे कहने का अधिकार रखते हैं कि साम्राज्यवाद से पूँजीपति वर्ग को सत्ता हस्तान्तरण के बाद भी क्रान्ति का रणनीतिक नारा नवजनवादी क्रान्ति का ही बना रहा? इस प्रश्न का जवाब अभिनव नहीं दे पाये थे।" अब देखिये, फिर से मूर्खताओं और झूठों का पहाड़ खड़ा कर दिया गया है। पहली मूर्खता, सी.पी.आई (एम) नवजनवादी क्रान्ति की नहीं बल्कि जनता की जनवादी क्रान्ति की बात करती है। लेकिन श्यामसुन्दर से यह मूर्खता होना लाज़िमी था, क्योंकि, जैसा कि हमने ऊपर दिखाया है, उन्हें जनता की जनवादी क्रान्ति और नवजनवादी क्रान्ति का फर्क ही नहीं समझ में आया है। दूसरी मूर्खता का जवाब हम ऊपर कई बार विस्तार से दे चुके हैं कि साम्राज्यवाद द्वारा अनैसर्गिक और अस्वाभाविक रूप से सत्ता बुर्जुआ वर्ग के हाथ में आने के बाद अगस्त 1947 में ही समाजवादी क्रान्ति का नारा क्यों नहीं दिया जा सकता, उस जवाब को हम दुहरायेंगे नहीं, साथी ऊपर देख लें। तीसरी मूर्खता, हमने यह नहीं कहा है कि 1947 से 1950 के दौरान भारत में नवजनवादी क्रान्ति विफल हुई, बल्कि हमने कहा है कि जनता की जनवादी क्रान्ति इस दौर में हो सकती थी, लेकिन विफल

रही। लेकिन यह मूर्खता भी श्यामसुन्दर के लिए सामान्य बात है, क्योंकि जैसा कि हम बता चुके हैं, जनता की जनवादी क्रान्ति और नवजनवादी क्रान्ति का फर्क उनके दिमाग़ में घुस नहीं पाया है। और चौथी मूर्खता जो कि वास्तव में झूठ-फरेब की श्रेणी में ज़्यादा आती है, वह यह कि जब मुझसे यह सवाल पूछा गया कि अगस्त 1947 के बाद जनता की जनवादी क्रान्ति की मंज़िल क्यों तो मैं इसका उत्तर नहीं दे सका! श्यामसुन्दर के लिए मिर्ज़ा ग़ालिब की ये पंक्तियाँ बिल्कुल सटीक बैठती हैं: 'दिल को खुश रखने को 'ग़ालिब' ये ख़याल अच्छा है!' हम एक बार फिर से श्यामसुन्दर को चुनौती देंगे कि अगर रंच मात्र भी साहस और राजनीतिक ईमानदारी बाकी है, तो कलायत बहस की वीडियो को व्यापक तौर पर राजनीतिक कार्यकर्ताओं में प्रसारित कर दें और लोग स्वयं देख लेंगे कि कलायत बहस में जवाब न दे पाने की स्थिति में कौन-सा पक्ष था। मैं इस तरह की बातों का जवाब देना हमारे संगठन की गरिमा के विरुद्ध मानता हूँ।

समाहार

साथियो, जैसा कि हमने इस पेपर के आरम्भ में कहा था, यह इस बहस में हमारा आख़िरी हस्तक्षेप है। मैंने यह भी बताया कि श्यामसुन्दर के पेपर में उनके द्वारा अपने पुराने तर्कों को ही गंजे होने की हद तक घिसे जाने के बावजूद (जिनका जवाब हम कलायत में पहले ही दे चुके थे; आप उस बहस का वीडियो देखें और आप समझ जाएँगे कि श्यामसुन्दर ने एक भी नयी बात नहीं कही है), हमने उनकी मूर्खताओं, बेवकूफियों, कूपमण्डूकताओं, घोंचूपन, झूठों, फरेबों, बेईमानियों, और फार्मुलेबाज़ियों के पुलिन्दे का जवाब क्यों दिया है? इसका मकसद श्यामसुन्दर को कुछ समझाना नहीं है क्योंकि हम दीवार को धक्का लगाने में विश्वास नहीं रखते हैं। लेकिन हमें लगता है कि किसी अन्य स्पष्ट लाइन के मौजूद न होने की सूरत में श्यामसुन्दर जैसे दीवालिया लाइन वाले लोग भी युवा राजनीतिक कार्यकर्ताओं पर असर डालते हैं। जैसा कि माओ ने कहा था, एशियाई समाज में ज्ञान और उम्र की तानाशाही चलती है। इस मामले में ज्ञान की तानाशाही का तो कोई सवाल नहीं है, क्योंकि उसके लिए ज्ञान होने की ज़रूरत है, जिसका श्यामसुन्दर के पास नितान्त अभाव है। लेकिन उम्र की तानाशाही तो हमारे समाज में काफी असरदार होती है। ऐसे में, हमारा मक़सद उन युवा राजनीतिक कार्यकर्ताओं के समक्ष श्यामसुन्दर की पिट चुकी और दीवालिया राजनीतिक लाइन और सोच को बेपर्द करना है, जो गम्भीरता से राजनीतिक और सांगठनिक सवालों पर सोचते हैं। इसीलिए हमें यह महसूस हुआ कि एक बार श्यामसुन्दर की हरेक मूर्खता और लफ्फाज़ी का नुक्तेवार और सिलसिलेवार जवाब दे दिया जाय। इसके बाद, हम युवा साथियों के विवेक पर पूरा भरोसा रखते हैं कि वे इस पेपर को गम्भीरता से पढ़ेंगे और श्यामसुन्दर की अधकचरी और मूर्खतापूर्ण लाइन के असली चरित्र को समझेंगे।

हमारा यह इस बहस में आख़िरी हस्तक्षेप कई कारणों से है। एक तो यह कि अगर यह बहस वाकई राजनीतिक रूप से न्यूनतम सम्माननीय समझदारी रखने वाले किसी व्यक्ति या संगठन से चल रही होती तो हमारी बहस जारी रखने में दिलचस्पी हो सकती थी। लेकिन इस सूरत में हमारा पाला एक प्रचण्ड मूर्ख से पड़ा है, जिसकी हरेक मूर्खता का हम जवाब देने लग जायें तो हम और कुछ कर ही न सकेंगे, क्योंकि जैसा कि आइंस्टीन ने कहा है, मानवीय मूर्खता असीम होती है! इस पेपर में हमने दिखा दिया है कि श्यामसुन्दर किस तरह से बिना समझे, सन्दर्भ से काटकर कोटेशनों का मनमाना मतलब निकालकर अपनी बात साबित करने के चक्कर पड़े रहते हैं, और यह काम भी वह निहायत मूर्खतापूर्ण तरीके से करते हैं। हमने यह भी दिखाया कि श्यामसुन्दर जो आरोप हम पर लगाते हैं, उसके असली अभियुक्त वह स्वयं हैं–यानी कि ग़लत उद्धृत (मिस्कोट) करना। इस बात को हम ऊपर दिखला चुके हैं। इसलिए ऐसे व्यक्ति का एक आख़िरी बार हमने पूरा पर्दाफाश किया है ताकि सनद रहे। अब आगे हमारी इस बहस को जारी रखने में कोई रुचि नहीं है और मुझे उम्मीद है कि सभी साथी भी इस बात को समझ रहे होंगे और महसूस कर रहे होंगे।

दूसरा कारण यह है कि हम एक काम करने वाले संगठन हैं। तमाम राज्यों में हम मज़दूरों के संगठन, ट्रेड यूनियन और उनके बीच से राजनीतिक भर्ती के कार्य और जुझारू आन्दोलनों में लगातार सक्रिय हैं। ऐसे में, हम किसी ऐसे व्यक्ति से बात करने में कोई दिलचस्पी नहीं रखते जो इस कोटि का मूर्ख हो और उसका मज़दूरों में काम से, ट्रेड यूनियन में काम से कोई रिश्ता न हो; जो अपने संगठन के युवा कार्यकर्ताओं को बुनियादी वर्गों को संगठित करने की बजाय, टटपुंजिया मध्यमवर्गीय जमात बना देने पर आमादा हो, जो न नियमित तौर पर संगठन का कोई ऑर्गन (पत्र, पत्रिका आदि) निकालता हो और न ही कोई निरंतर और नियमित राजनीतिक कार्य करता हो। कुल मिलाकर, कुछ लाईब्रेरियाँ चलाना (उनमें से भी कुछ लाईब्रेरियाँ दूसरे लोगों से ज़ब्त की हुई हैं!), भगतसिंह की जयन्ती और शहादत दिवस पर कुछ रस्मी कवायद कर देना जिसमें वह खुद ही महान दार्शनिक बनकर हर बार अवतरित होते हैं! ऐसे निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवादी (पैस्सिव रैडिकल) संगठन से बहस चलाने का क्या तुक है, जबकि वह कोई तर्कसंगत, वैज्ञानिक बात भी न कह रहा हो, और एक के बाद एक मूर्खता के कीर्तिमान स्थापित कर रहा हो और अपने ही कीर्तिमानों को तोड़ रहा हो? इन्हीं कारणों से, यह इस बहस में हमारा आखिरी हस्तक्षेप है। जो साथी हमारी पूरी अवस्थिति को समझना चाहते हैं, वे इस पेपर को पढ़े, कलायत बहस के वीडियो को देखें और हमारे पहले पेपर को पढ़ें।

हमें यक़ीन है कि हमारी पत्र-पत्रिकाएँ सभी साथियों तक पहुँच रहीं होंगी। यदि न पहुँच रहीं हों तो हमारी पत्र-पत्रिकाओं और हमारे ज़रूरी साहित्य को आप हमारे कलायत और नरवाना के साथियों से प्राप्त कर सकते हैं। इसी उम्मीद में मैं अपनी बात समाप्त करता हूँ कि श्यामसुन्दर द्वारा फैलाये गये कूपमण्डूकता और दिमाग़ी दीवालियेपन के घटाटोप से सभी साथी बाहर निकलेंगे और सही कार्यदिशा के साथ अवस्थिति ग्रहण करेंगे।

इंक़लाब ज़िन्दाबाद,

अभिनव,

प्रैक्सिस कलेक्टिव, नरवाना-कलायत

(1 अक्तूबर, 2012)